हमारी पीढ़ी ने संसदवाद, अर्थवाद, समझौतावाद और वैचारिक परमुखापेक्षिता के दुष्परिणामों को खूब देखा-भोगा है। आन्दोलन के टूटन-विघटन ने बहुतेरे कार्यकर्ताओं को पतन या निराशा की ढलान पर भी ढकेल दिया। पारिवारिक जीवन तक पर प्रभाव पड़ा। अब समय है जब इतिहास से सबक़ लेकर समाजवाद की नयी परियोजना तैयार की जाये और उसकी वाहक शक्ति का पुनर्निर्माण किया जाये, वैचारिक तैयारी की जाये, युवा क्रान्तिकारियों की नयी पीढ़ी तैयार की जाये और अर्थवादी सौदेबाज़ों के चंगुल से निकालकर श्रमिकों को क्रान्तिकारी संघर्ष में उतारा जाये।

– कमला पाण्डेय

अनुराग ट्रस्ट

ISBN 978-81-89719-09-8

यादों के घेरे में अतीत
कमला पाण्डेय

यादों के घेरे में अतीत

संस्मरण और शब्दचित्र

कमला पाण्डेय

कामरेड कमला पाण्डेय की सर्जनात्मक सक्रियता का क्षेत्र कला-साहित्य का दायरा नहीं रहा है। वह युवा होने से पूर्व ही राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रवाह से जुड़ गयी थीं और फिर कम्युनिस्ट राजनीति और वाम शिक्षक राजनीति में लगभग आधी शताब्दी तक सक्रिय रहीं।

वार्द्धक्य और निजी जीवन की त्रासदियों के प्रभाव से जर्जर शरीर ने जब असहयोग करना शुरू किया तो कमला जी ने पुत्रियों के सहारे, निष्क्रिय-निरुपाय जीते हुए मृत्यु की प्रतीक्षा करने के बजाय अपनी ऊर्जस्विता और रचनात्मकता को भावी पीढ़ियों के स्वस्थ मानस-निर्माण की मुहिम को समर्पित कर दिया और **अनुराग बाल पत्रिका**, **बाल शिक्षा केन्द्र**, **पुस्तकालय** आदि उपक्रमों की शुरुआत की। विगत ग्यारह वर्षों से **अनुराग ट्रस्ट** इन्हीं प्रयोगों को आगे विस्तार दे रहा है।

शारीरिक अशक्तता बढ़ने के बाद भी कमला जी की अजेय आत्मा ने कभी हथियार नहीं डाले। **अनुराग ट्रस्ट** के श्रमसाध्य कार्यों में और अन्य राजनीतिक कार्यों में उनकी अधिक सक्रिय भागीदारी जब सम्भव नहीं रही तो ऐसे कामों को अपने वैचारिक उत्तराधिकारी – **अनुराग ट्रस्ट** के युवा साथियों के कन्धों पर डालकर कमला जी ने लेखनी उठा ली। जीवन और आन्दोलनों के चढ़ाव-उतार भरे न जाने कितने ही दौर उन्होंने देखे थे। इन सभी जीवनानुभवों को उन्होंने संस्मरणों, शब्दचित्रों, उपन्यास और कहानियों के रूप में लिखना शुरू किया। यह उनकी अनथक जिजीविषा और दुर्द्धर्ष युयुत्सा का ही परिणाम था कि 76-80 वर्ष की आयु में, लगभग पाँच वर्षों की समयावधि के दौरान कमला जी ने एक उपन्यास, तेरह कहानियाँ, संस्मरण और शब्दचित्र लिख डाले और साथ ही बाल साहित्य की वैचारिक पृष्ठभूमि और समस्याओं पर महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक लेखन भी किया।

यादों के घेरे में अतीत कमला जी के

अगले फ्लैप पर जारी

यादों के घेरे में अतीत

संस्मरण और शब्दचित्र

यादों के घेरे में अतीत

संस्मरण और शब्दचित्र

कमला पाण्डेय

अनुराग ट्रस्ट

ISBN 978-81-89719-09-8

मूल्य : 100.00 रुपये

पहला संस्करण : अप्रैल, 2011

प्रकाशक

अनुराग ट्रस्ट

डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020

लेज़र टाइप सेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फ़ाउण्डेशन

मुद्रक : अंगकोर पब्लिशर्स प्रा. लि., नोएडा, उत्तर प्रदेश

YAADON KE GHERE MEI ATEET (*Reminiscences & Sketches*)

by **Kamla Pandey**

अथक स्वतन्त्रता सेनानी
कामरेड शिव शर्मा को
सादर समर्पित

अनुक्रम

यादों के घेरे में अतीत

1939-40 का ज़माना – दूसरा विश्वयुद्ध छिड़ गया था। एक ओर थीं जापान, इटली और जर्मनी जैसी फ़ासिस्ट शक्तियाँ और दूसरी ओर मुक़ाबला कर रहे थे रूस, फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन – मित्र राष्ट्र। अंग्रेज़ों का उपनिवेश भारत अपनी आज़ादी की लड़ाई लड़ रहा था। यह संग्राम-लक्ष्य, एक दिखायी देने पर भी अलग-अलग खेमों में बँटा था – सुभाषबोस भारत की स्वतन्त्रता के लिए जापानी मदद से लड़ रहे थे, कांग्रेसी अहिंसात्मक सत्याग्रह कर रहे थे, क्रान्तिकारी सशस्त्र क्रान्ति के समर्थक थे, कट्टर मज़हबी शक्तियाँ गृहयुद्ध की परिस्थितियाँ पैदा करने में मशगूल थीं, तो मुस्लिम लीग (जिन्ना के नेतृत्व में पाकिस्तान) भारत-विभाजन के लिए कटिबद्ध था।

कानपुर औद्योगिक शहर था। मुस्लिम आबादी अच्छी-ख़ासी थी। मज़दूरों की विशाल जनसंख्या थी। रैडिकल कांग्रेसी धारा के साथ कम्युनिस्ट आन्दोलन का विशेष आधार था वहाँ, जिसके चलते कानपुर को 'लाल कानपुर' भी कहा जाने लगा था।

मैं आठ-नौ साल की बच्ची थी। इफ़्तिख़ाराबाद। दलेलपुरवा चौराहे के समीप मेरा घर और कुछ ही क़दम आगे मेन रोड पर मेरे पिता की छोटी-सी हलवाई की दूकान थी। मेरे घर की दीवार और छज्जे से सटा हुआ एक मुसलमान का घर था। घर के दूसरी ओर एक ख़ाली प्लॉट पड़ा हुआ था, फिर शिवाला; और तदुपरान्त चौड़ी मेन सड़क – पीछे की ओर किसी मकान का ध्वंसावशेष, फिर सड़क और सड़क के उस पार दूर-दूर तक फैला क़ब्रिस्तान था। सामने दरवाज़े की सड़क के पार बेर, खिरनी, फालसे और कनेर के पेड़ थे, जिनके नीचे धोबी के कई गधे बँधे रहते। उन दिनों मेरा और मेरे छोटे भाई (बाबू) का एकमात्र मनोरंजन का साधन था – गधों का लड़ना और रेंकना देखना जिनकी आवाज़ें हम दोनों भी निकालते, और अम्मा की डाँट खाते। सामने की दीवार के उस पार बहुत ही सुन्दर, हरा भरा (रामबाग़) बग़ीचा था – तरह-तरह के फलों, फूलों से लदा, झाड़ियों और मण्डपों से सुगुम्फित – जिसकी खुशबूदार हवा तरोताज़ा कर देती।

इन दिनों हमारी बड़ी बहन (विद्या जिज्जी), अकर्मण्य, विक्षिप्तमना जीजा जी से प्रताड़ित होकर हमारे ही साथ रहने के लिए आ गयी थीं। उन्होंने प्राइमरी भी पास नहीं किया था – वे घर के सारे काम करतीं, हम दोनों भाई-बहनों

को अतिशय प्यार करतीं। धार्मिक ग्रन्थ, ख़ासकर रामायण पढ़ा करतीं और उसके छन्दों को तरह-तरह के भावानुकूल स्वर-तालों में आबद्ध करती रहतीं। उन्हें संगीत बहुत अच्छा लगता था, तरह-तरह के लोकगीत, सोहर, बन्ना, घोड़ी, सोहाग, होली और कजरी गीत इस प्रकार आलाप लेकर गातीं कि मैं झूम-झूम उठती। दद्दा चाहते थे कि वे फिर से पढ़ाई शुरू कर दें। थोड़ी बहुत अंग्रेज़ी भी जान लें, तो उन्हें अपने पैरों पर खड़े होने लायक बनाया जा सके। उन्होंने ठाकुर भैया (ठाकुरदास वैद्य) को, जो छात्र यूनियन में सक्रिय थे, और अपना घर छोड़कर कानपुर पढ़ने आये थे, विद्या जिज्जी की ट्यूशन पर लगा दिया, वे हमें भी पढ़ा देते थे।

शिव शर्मा (दद्दा) के बचपन का नाम शिवदर्शन लाल था। वे हमारे चचेरे ताऊ के नम्बर दो लड़के थे। संयुक्त परिवार में ताऊ मुखिया थे। वे भगवन्त नगर, मल्लावाँ, ज़िला हरदोई में रहकर खेती कराते थे। उन्होंने खेती की समस्त भूमि पर एकाधिकार स्थापित कर लिया। बाबा ने भी लिहाज़ में कुछ न कहकर सपरिवार घर छोड़ दिया। वे कानपुर चले आये। कुछ दिन जस्ते का व्यापार किया, बच्चों ने सिर पर थाल रख गली-गली खोंमचा लगाया, फिर पूरा परिवार हलवाई की दूकान बढ़ाने में जुट गया।

ताऊ को अपनी कुलीनता पर बहुत अधिक गर्व था, वे कट्टर कर्मकाण्डी थे, और दद्दा शिवदर्शन थे ठीक इसके विपरीत – मानवमात्र के प्रेमी – सवर्ण-अछूत, हिन्दू-मुसलमान, जाति-पाँति, ऊँच-नीच के सर्वथा विरोधी... अतः निकृष्ट, म्लेच्छ लड़के को मृत-तुल्य मान निर्वासित कर दिया गया। दद्दा कुछ दिन कानपुर रहे, दूकान पर बैठे, यहीं से वे सम्पर्क-सूत्र लेकर बम्बई चले गये। वहाँ किसी टेनरी में मज़दूरी मिली, साथ ही 1917 की रूसी क्रान्ति से प्रभावित कुछ क्रान्तिकारी नवयुवकों से भी मुलाक़ात हुई। सबने ठोकरें खायी थीं, तरह-तरह की परिस्थितियों से जूझे थे, सबके अपने-अपने जाति, व्यवस्था और समाज के अनुभव थे और इन सबके ऊपर था विदेशी शासकों का उन्हें पशुवत् समझने का नज़रिया, घण्टों इन सब बातों पर बहस करते-कराते अन्त में उन्हें एक दिशा मिली।

क्रान्तिकारी लाइन से सहमत शिव ने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ जमकर लड़ाई में हिस्सा लिया। वे कर्मठ थे। खुले और उदार दृष्टि वाले। मज़दूरों की अगुवाई करने का कोई मौक़ा न चूकते और मरने-मारने को हरदम तैयार रहते – अंग्रेज़ सरकार को उनसे इतना अधिक ख़तरा हो गया कि उन्हें बम्बई-निकाला दे दिया गया। फ़रारी हालत में वे पुनः कानपुर आ गये। यहाँ भूमिगत रहते हुए पार्टी-संगठन बनाया, और कानपुर की चमड़ा मिलों में मज़दूरों की यूनियन

बनाने में जुट गये। बम्बई में ही उन्होंने अपने विश्वस्त साथियों के साथ मिलकर कम्युनिस्ट पार्टी बना ली थी, और उसके सक्रिय साझीदार बन गये थे, और इसकी शाखाओं को आगे बढ़ाने का संकल्प लिया था, अतः कानपुर में रहकर उन्होंने मज़दूरों को जागरूक और संगठित करने का काम शुरू कर दिया। वे ग्वालटोली से लेकर जाजमऊ तक सभी मिलों में धीरे-धीरे अपनी पैठ बना चुके थे। बड़े सबेरे उठते, पैदल ही चलकर गेट-मीटिंगें करते। कभी-कभी मज़दूर नवयुवकों की क्लास भी लेते। पर्चे-पैम्फ़्लेट भी बाँटे जाते। कानपुर की लगभग सभी टेनरियों और चमड़ा मिलों के लगभग चालीस हज़ार मज़दूरों के वे अगुआ थे। पार्टी में अब वे शिवदर्शन लाल नहीं 'शिव शर्मा' के नाम से जाने जाते थे। उन्होंने आजीवन विवाह नहीं किया, कोई भी लत नहीं पाली, स्वाध्याय से हिन्दी, अंग्रेज़ी, उर्दू तथा कुछ रूसी भाषा भी सीखी। कम्युनिस्ट पार्टी के सुदृढ़, ईमानदार, चरित्रवान कार्यकर्ता के रूप में उनकी ख्याति थी।

दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान वे हमारे ही घर पर रहते थे। जहाँ एक ओर वे अंग्रेज़ों के विरोधी थे, वहीं कांग्रेस से भी उनका कुछ मतभेद था, लीग की कट्टरता उन्हें नामंज़ूर थी, पर मुसलमानों की जायज़ माँग को मान लेने में कोई हर्ज़ नहीं समझते थे। इन दिनों कानपुर दंगों का केन्द्र-बिन्दु बन गया था। मेरा घर मुसलमानी मुहल्ले में था, और दंगा प्रभावित एरिया में भी। दो-तीन बार अराजक तत्वों ने मेरे घर और दूकान में आग लगा दी। मेरे बापू (पिता) सरल स्वभाव एवं दानशील प्रवृत्ति के व्यक्ति थे, और सदैव सहायता करने को तत्पर रहते थे। अतः मुहल्ले के हिन्दू हों या मुसलमान, उन्हें हानि नहीं पहुँचाते थे। वे पण्डित जी (बापू) के हमदर्द बन गये थे, अतः जब अज्ञात तत्वों ने आगजनी की, तो मुहल्ले के लोगों ने आगे बढ़कर आग बुझायी।

उन दिनों जापानी बमवर्षकों के आगमन की अफ़वाह भी फैली हुई थी, कुछ लोग सोचते थे कि सुभाषबोस वहाँ से लड़ रहे हैं, अतः बर्तानिया सरकार को एक धक्का और दिया जाये, तो गुलामी का जुआ उतर जायेगा, ऐसे माहौल में 'अंग्रेज़ो भारत छोड़ो' और 'करो या मरो' के नारों ने लोगों के जोश को उन्माद की सीमा तक पहुँचा दिया था।

मेरा घर मुसलमान मुहल्ले में था। चारों ओर या तो स्तब्धकारी सन्नाटा छाया रहता था, या – 'हँसकर लिया है हिन्दुस्तान, लड़कर लेगें पाकिस्तान', 'अल्लाहो अकबर' के गगनभेदी नारों की गूँज उठा करती – और जब 'हर हर महादेव', 'जय बजरंग बली' के जवाबी नारे लगने लगते, तो ख़ूँरेज़ी बढ़ जाती। कई बार अपने दरवाज़े पर मैंने चाकू भुँके, ख़ून से लथपथ, तड़पते और दम

तोड़ते हुए लोगों को देखा। भयानक दहशत का माहौल...। मेरे छज्जे पर चारों ओर चिकें पड़ी हुई थीं, और मेरा छज्जे पर जाना एकदम मना था। मैं एक दुबली-पतली मरियल-सी दस-बारह साल की लड़की थी, लेकिन मेरी माँ हर समय मेरी सुरक्षा को लेकर डरी रहतीं, और कैसे भी सुरक्षित रखकर पराये घर (ब्याहकर) भेजने के लिए व्याकुल हो बापू और दद्दा से लड़का ढूँढ़ने का आग्रह करतीं। मेरी पढ़ाई बन्द हो गयी थी, उन्हें चिन्ता थी कि भोली-भाली, फूल-सी बच्ची को कोई इस माहौल में उठा न ले जाये। जो दो-एक लड़के उन्हें पता चले, वे हम लोगों से बहुत अधिक कुलीन, कर्मकाण्डी और दहेज-लोलुप थे – और यह हम लोगों के सिद्धान्त और सामर्थ्य के खिलाफ़ था, अतः शिव दा ने मेरी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेकर अम्मा को आश्वस्त किया। बापू को भला क्या एतराज़ होता, वे वैसे भी बहुत कम बोलते थे और घरेलू बातों में हस्तक्षेप नहीं करते थे।

उन दिनों 'लोकयुद्ध' अखबार लड़ाई की खबरों से भरा रहता। दद्दा रोज़ मुझे पढ़ने को देते, अम्मा हर खबर पढ़वातीं, और बड़े चाव से सुनतीं। मुझे प्रेमचन्द और यशपाल की भी कहानियों की किताबें उन्होंने लाकर दीं। कभी-कभी दद्दा अंग्रेज़ी के अल्फ़ाबेट्स और गिनतियाँ पढ़ा देते, और कहते – "पक्का करो।" महीनों बीत जाते, तब वे आते। मैं पढ़ाने के लिए कहती, तो वे फिर कहते – "अभी और पक्का करो।" मुझे अपना स्कूल और सहेलियाँ याद आतीं – और मैं छिपकर रोया करती।

मेरे नाना मिश्री तिवारी बहुत बूढ़े थे। वे छत के ऊपर वाले कमरे में रहा करते। वे हम दोनों (मुझे और छोटे भाई – बाबू) को दोहा, चौपाई, सोरठा, छप्पय और कवित्त सुनाया करते। कभी-कभी कहानियाँ भी सुनाते। उन्हें पूरे-पूरे ग्रन्थ याद थे।

पुलिस की गश्त तेज़ हो गयी थी, और इस संवेदनशील मुहल्ले तथा हमारे घर के तो बहुत चक्कर लगाया करती। एक बार पुलिस ने छापा मारा और हमारे घर ज़बरदस्ती घुस आयी। वह दद्दा को पकड़ने आयी थी, दद्दा सतर्क थे, तुरन्त पीछे की छत से खाली प्लॉट पर कूद पड़े, चोटें लगीं, अँगूठा टूट गया, पर वे सड़क और क़ब्रिस्तान पार कर भागते हुए हीरामन के पुरवा की गलियों में गुम हो गये। पुलिस को दद्दा की जगह वृद्ध नाना मिले, जिन्हें देख-सुन वह चुपचाप लौट गयी, और हम लोगों से कोई बदसलूकी नहीं की। हम डरे हुओं ने अब राहत की साँस ली।

दंगों की दहशत और बार-बार की आगजनी ने दलेलपुरवा में हमारा रहना दूभर कर दिया था, अतः हम लोग बलखण्डेश्वर मन्दिर सीसामऊ मुहल्ले में

किराये के मकान में आकर रहने लगे। इस बीच हमारी बहन (विद्या जिज्जी) के ससुर ने हमारे बापू को श्री रामकृष्णा नगर में एक प्लॉट खरीदवा दिया, और स्वयं खड़े होकर व सारा इन्तज़ाम करके मकान भी बनवा दिया। वे मेकराबर्टगंज स्कूल के हेडमास्टर थे, और जीजा जी के स्वभाव से उलट अतिमृदु और सहयोगी थे। बप्पा (बहन के ससुर) ने मेरा नाम नार्मल स्कूल आनन्दबाग़ में लिखा दिया, और मेरी पढ़ाई फिर शुरू हो गयी। नार्मल स्कूल के ठीक सामने एक टेनरी थी, इसमें काम करने वाले मज़दूरों के बीच दद्दा आते-जाते रहते थे। वे मुझसे भी मिले। मुझे छात्र संघ के सदस्य बनने और बनाने की बातें समझायीं, और तेज़ लड़की बनने की हिदायत दी। मैं मन लगाकर पढ़ती, और अंकगणित में पूरे 100/100 नम्बर लाकर छठी और सातवीं कक्षाएँ पास हो गयी।

सन् 1945 में आज़ादी की लड़ाई बहुत तेज़ हो गयी। उधर विश्वयुद्ध समापन से पूर्व उग्र हो उठा था। 1946 में भारत में डाककर्मियों की हड़ताल। बंगाल जल ही रहा था, ऐसे में जहाज़ी नौसैनिक विद्रोह पर उतारू हो गये – पार्टी ने नौसैनिकों के समर्थन में नौजवानों और छात्रों का हड़ताल में भाग लेने का आह्वान किया। नौजवान छात्र यूनियन के सक्रिय कार्यकर्ताओं ने हड़ताल का पर्चा निकाला, जो मुझे भी मिला। मुझे लगा कि कहीं मैं पिछड़ न जाऊँ, इसलिए दूसरे दिन मैं काफ़ी पहले स्कूल पहुँच गयी। मैंने भी कुछ बच्चे सदस्य बना रखे थे, जो बच्चे आते गये, उन्हें हड़ताल में शामिल होने की सूचना देती गयी। शिक्षकों की हमारे साथ सहानुभूति थी ही, मैंने उन्हें भी साहस करके पर्चे दिये। इत्तिफ़ाक़ से उस दिन प्रिंसिपल देर से आयीं, प्रार्थनासभा शुरू होने वाली थी कि मैंने लड़कियों को बताया कि देश को बच्चों की मदद की ज़रूरत है, सारे स्कूलों के छात्र-छात्राएँ आज हड़ताल करके आम सभा में परेड ग्राउण्ड पहुँच रहे हैं, हमें भी वहीं चलना चाहिए, और ज़ोर से छुट्टी-छुट्टी-छुट्टी कहते हुए घण्टा बजा दिया। सारे बच्चे गेट से निकल भागे – मैंने आगे दौड़कर लाइन बनवायी, और परेड की ओर चल पड़ी। अभी कुछ ही दूर पहुँचे थे कि घुड़सवार पुलिस दस्ता, लम्बे-लम्बे चाबुक फटकारते हुए दौड़ पड़ा। सड़क-निर्माण हेतु दोनों ओर पत्थर की गिट्टियों के ढेर पड़े हुए थे, जिस पर किनारे हटने की प्रक्रिया में कुछ बच्चे और मैं गिर पड़े। बाक़ी डरकर इधर-उधर भाग खड़े हुए। मेरी उँगली गहराई तक कट गयी थी, और उससे खून बह रहा था, फिर भी मैं कुछ और आगे बढ़ी ही थी कि यूनियन के साथियों ने हमें रोका, शायद पार्टी के कुछ लोगों को भी बच्चों की अप्रत्याशित भागीदारी नहीं जँची – उसी समय पता नहीं

कहाँ से दद्दा भी आ पहुँचे। उन्होंने बचे हुए बच्चों को सुरक्षित घर पहुँचवाया, मेरी उँगली पर पट्टी बँधवायी, और बड़े फ़ख्र से उन्होंने मुझे 'यंग कामरेड' की उपाधि दी। पर इस घटना को घर में नहीं बताया गया, ताकि आगे पढ़ाई बन्द न कर दी जाये। दूसरे दिन मैं जैसे ही गेट के अन्दर घुसी, प्रिंसिपल ने मुझे बुलवाया, और बच्चों को अनुशासनहीनता सिखाने के लिए सज़ा के तौर पर तीन बेंत मारे, पर चोट जानकर चुप हो गयीं। मैं भी अम्मा तक शिकायत न पहुँचने के कारण खुश थी कि चलो इतने से छुट्टी मिली, देश के काम के लिए यह सज़ा कोई बात नहीं।

अब हम लोग अपने निजी मकान रामकृष्णा नगर शिफ़्ट हो गये थे। खूब लम्बा-चौड़ा, बड़ा-सा खुला हुआ घर था। मैंने हिन्दी मिडिल पास कर लिया था। इससे आगे नये क्लास और अंग्रेज़ी के लिए कॉलेज में एडमिशन ज़रूरी था। दद्दा ने कोशिश करके मेरा एडमिशन एम.जी. कॉलेज में करवा दिया, लेकिन अंग्रेज़ी न होने के कारण फिर से आठवीं विशेष में एडमिशन लेना पड़ा, और एबीसीडी से अंग्रेज़ी की शुरुआत। दद्दा तो होलटाइमर थे, हमारी कापी-किताबें और फ़ीस का खर्च तथा रिक्शा आदि के व्यय के बोझ को कैसे झेलते? अम्मा इस सबकी बजाय मेरी शादी कर देना अधिक उचित समझती थीं। मकान बनवाने में बापू क़र्ज़दार हो गये थे, अतः दद्दा ने 'यंग कामरेड' की पढ़ाई, सुरक्षा, ज़िम्मेदारी आदि समस्या को पार्टी में डिस्कस किया। लोग शिव शर्मा को मेरा पिता समझते थे। पार्टी में बातचीत से तय हुआ कि मेरी कामरेड सुरेश (जयनारायण पाण्डेय) के साथ शादी कर दी जाये। कामरेड सुरेश छात्र यूनियन के सक्रिय कार्यकर्ता थे। माता-पिता विहीन। सात भाई-बहनों की परवरिश उनकी विधवा ताई मकान के किराये की अल्प आय से येन केन प्रकारेण कर रही थीं। क्रान्तिकारी साथी सुरेश कांग्रेस छोड़कर आर. एस.पी. में आ गये थे और कानपुर कोतवाली बमकाण्ड के षड्यन्त्रकारी अभियुक्तों में से एक थे। वे फ़रार होकर बुन्देलखण्ड चले गये, और नरेन्द्र (नाम बदलकर) नाम से फ़र्स्ट डिवीज़न में इण्टर कर चुके थे। वे अब एस.डी. कॉलेज, कानपुर से बी.ए. कर रहे थे, और पार्टी का काम भी। अतः मुझे पढ़ाई जारी रखने और सुरेश के घर की ज़िम्मेदारियों में हिस्सा बँटाने का काम सौंपा गया तथा सुरेश को पार्टी संगठन का कार्यभार। इस प्रकार मेरी शादी बिना दहेज के सिद्धान्त को बरक़रार रखते हुए ब्राह्मण परिवार में हो गयी।

लेकिन सब कुछ इतना सरल नहीं था। सन् 1946 हाय-तौबा, अफ़रा-तफ़री का साल था। विश्व के अनेक देश युद्ध के ध्वंसावशेष बन गये थे, तो भारत आदि उपनिवेशों को अंग्रेज़ों ने साम्प्रदायिकता, फूट और कंगाली

की आग में झोंक दिया था।

छात्रों की परीक्षा तिथियाँ दंगा-फ़साद के कारण बार-बार टल रही थीं। बढ़ते-बढ़ते 21 मई विवाह की तिथि तय हुई। बारात जिन मुहल्लों से होकर निकलनी थी, वे संवेदनशील थे, परन्तु नवयुवक छात्र साथी उत्सुक थे – कोई चोरी का काम थोड़े ही है, जो चुपके से किया जाये। बारात ज़रूर निकलेगी और बारात एक जुलूस की शक्ल में निकली, जिसमें कांग्रेसी, कम्युनिस्ट, लीगी, क्रान्तिकारी, हिन्दू, मुस्लिम, सिख, पारसी सभी लोग शामिल हुए – एकता की अनुपम मिसाल। जहाँ हिन्दू मुहल्ले आते धोतियाँ आगे आ जातीं और उनके घेरे में बाक़ी लोग। जहाँ मुसलमानी मुहल्ला होता, वहाँ पैजामे आगे रहते और बाक़ी लोग उनके पीछे। दूल्हे की कार बीच में। दरवाज़े पर सबकी अगवानी हुई। सभी वर के साथी बराती ब्राह्मण मान्य हुए। सभी को आदरपूर्वक समान रूप से नाश्ता-खाना परोसा गया। इसी बीच किसी ने छत के ऊपर लाल झण्डा लगा दिया, कुछ नाते-रिश्तेदारों को शक हो गया था, वे भड़क गये। उनका शक अब पक्का हो गया, वे बिना खाना खाये ही यह कहकर चले गये कि "हम लोग तो ब्राह्मण वर के साथ विवाह समारोह में शामिल होने आये थे, न कि लाल झण्डे के साथ शादी में भ्रष्ट होने।" बापू चुप ही रहे, इस बीच परीक्षा की तिथियाँ भी एक दिन छोड़ एक घोषित हुईं। मेरे दसवीं के बोर्ड एक्ज़ाम्स जब पड़ते, मुझे भेज दिया जाता। बारात बापू ने आठ दिन तक रोके रखी, उन्होंने सभी के चाय, नाश्ता, खाना और जो रहना चाहे उसके सोने की पूरी व्यवस्था की और आठवें दिन मेरी विदाई की। ससुराल पहुँचने के दूसरे दिन सुबह भी मेरी परीक्षा थी, सो इन्तज़ाम कर दिया गया। मेरी पढ़ाई चालू रही और बिना परेशानी के मैं सेकिण्ड डिवीज़न में पास भी हो गयी।

सुरेश का घर गन्दी बदबूदार, सीलन भरी गली के अन्तिम छोर पर था। नीचे का हिस्सा – कमरा और रसोईघर दिन में भी अँधेरा। सर्वत्र विपन्नता का राज्य था, लेकिन अम्मा (सास) और देवरों का व्यवहार सहयोगपूर्ण था। सभी परिचित साथी – ठाकुरदास, खेतान आदि सुरेश के साथ यहाँ भी आते रहते। ख़ास पर्दा नहीं था, लोगों से बातचीत की भी कोई मनाही नहीं थी। लेकिन सुरेश के व्यवहार में न जाने क्यों अपेक्षित सहयोग और मृदुता नहीं थी।

अभी मुझे शिवाले के घर (सुरेश का घर) आये तीसरा दिन था कि कामरेड सुल्तान नियाज़ी की बहन मुझसे मिलने आने वाली थीं, सुरेश ने मेरे सारे गहने ज़ेवर उतरवा दिये, सिन्दूर भी साफ़ करवा दिया। क़मर जहाँ और नसीम बानो तो उस दिन नहीं आ पायीं, लेकिन नाते-रिश्तेदार और मुहल्ले की बहू देखने आने वाली स्त्रियाँ हतप्रभ थीं – यह कैसा रूप? यह तो अपशकुन

है, मुझे तरह-तरह की कटूक्तियाँ सुननी पड़ीं, मैं परेशान थी – सुरेश को खुश करूँ या इन लोगों को। सुरेश घर से गायब हो गये, और वर-वधू की साथ-साथ की जाने वाली कुछ रस्में देवर (बच्चा) के साथ करवायी गयीं। जिसके कारण मेरा स्थान कमतर हो गया। मेरी ननदों ने मेरी सुन्दरता और लम्बाई को लेकर सुरेश की इच्छा के विपरीत थोपी हुई शादी कहकर मेरी बड़ी खिल्ली उड़ायी। लेकिन मैंने सब कुछ धैर्य से सहा। मैं पार्टी द्वारा सौंपी गयी ज़िम्मेदारियों से बँधी थी, इसलिए रामकृष्णा नगर भी नहीं गयी। मेरी माँ या भाई लगभग हर हफ्ता-पन्द्रह दिन पर कुछ न कुछ खाद्यान्न, कपड़े, रुपये, फल आदि लाकर अम्मा को सहयोग के रूप में देते रहते। मैंने किसी भी कठिनाई का ज़िक्र न दद्दा से न अपने भाई से किया।

नया सत्र शुरू होने पर मैंने अंग्रेज़ी विषय लेकर नौवीं की पढ़ाई चालू कर दी। आधार कमज़ोर था, अंग्रेज़ी कठिन लगती, सुरेश पढ़ाते तो कच्चेपन पर खीझ जाते। मैंने कठिन परिश्रम किया, हिम्मत नहीं हारी और अगले साल जब बोर्ड का रिज़ल्ट निकला तो गणित और हिन्दी में **विशेष योग्यता** के अंक प्राप्त कर मैंने हाई स्कूल पास कर लिया था।

1947 में देश आज़ाद हो गया, लेकिन पार्टी ने इसको झूठी आज़ादी क़रार दिया। 1948 का दौर, बी.टी.आर. पीरियड – मीटिंगों और जुलूसों का ताँता, पर पार्टी कैडर पूरा अनुशासित और जोशीला। मैंने भी पार्टी द्वारा आयोजित कई जुलूसों में भाग लिया, जो नारा आज भी प्रासंगिक है कि 'यह आज़ादी झूठी है, देश की जनता भूखी है।' 'सरमायेदारों की सरकार, देखो कितनी है मक्कार!!' इन नारों के पीछे छिपी मनोवृत्ति को भला बुर्जुआ सरकार कैसे न कुचलती? अतः कम्युनिस्टों की आम धर-पकड़ शुरू हो गयी। सुरेश गिरफ्तार हो गये, और लोग भी पकड़े गये, लेकिन न स्पष्ट आरोप लगे, न मुक़दमा चला। बस जेल में ठूँस दिये गये।

अब मेरे ऊपर काम का बोझ ही बोझ था। घर की आर्थिक हालत ख़राब तो थी ही, देवरों पर बाहर का रंग चढ़ रहा था, वे इतना बिगड़ गये थे कि कभी-कभी मैं अपने को असुरक्षित महसूस करती, और अम्मा के साथ दुबकी रहती। मैंने हीरामन के पुरवा स्कूल में अप्रशिक्षित अध्यापिका की नौकरी कर ली थी। कई ट्यूशनें कर ली थीं। अपने ऊपर एक पैसा भी खर्च न करती, हर जगह पैदल ही आती-जाती। कभी-कभी बोडस साहब म्यूज़िक टीचर (मुहल्ले में ही रहते थे) से संगीत सीखने भी चली जाती और उनके गाये आरोह-अवरोह, राग व लय को ध्यान से सुनकर कण्ठस्थ करती रहती। इस तरह बिना इंस्ट्रूमेण्ट के भी मैंने दो साल का संगीत कोर्स पास कर लिया,

जिससे आगे चलकर सांस्कृतिक कार्यक्रमों में बहुत सहायता मिली। मैंने इसी दरम्यान विशारद की परीक्षा का फ़ार्म भी भर दिया, पढ़ने का तो जैसे मुझ पर नशा सवार था, अतः हिन्दी मीडियम से कोई कठिनाई न हुई और 1949 में विशारद भी पास कर लिया। मैं अपने कार्य से सन्तुष्ट थी, लेकिन घरेलू परिस्थितियाँ मुझे निराशा के गर्त में गिरा देतीं। मेरे देवरों ने एक-एक कर चुपके-चुपके मेरे सारे ज़ेवर बेच डाले। फ़ीस या तनख़्वाह के रखे हुए पैसे चुराकर खा जाते। लड़के बड़े हो रहे थे, ग़ैर-ज़िम्मेदार भी, अम्मा की क्या सुनते? उधर सुरेश जेल में भीषण संघर्ष का सामना कर रहे थे। जेल में लाठीचार्ज हुआ, जवाब में ये लोग चादरों में लोटे बाँधकर लड़े, लेकिन संकीर्ण कोठरियों में कब तक सामना करते – सिर फूट गया, काफ़ी चोट आयी। किसी का हाथ टूटा, किसी का पैर... फिर भी साथी हारे नहीं, भूख हड़ताल कर दी; किन्तु एक-एक कर लोग टूटने लगे। खेतान ने अपनी माँ का बहाना बनाया और भूख हड़ताल तोड़ दी। सुरेश उनके दोस्त थे। उनका कहना था कि यह अतिवादी लाइन ग़लत है। लेकिन व्यक्तिवादी ढंग से कोई फ़ैसला कैसे बदला जा सकता है? मेरे पीछे भी सी.आई.डी. लगी थी, पर अम्मा हर जगह मेरा साथ देतीं। जेल में मिलायी हो या किसी के घर जाना हो। घर के कामों में भी मेरी सहायता करतीं, जिससे मुझे पढ़ने का मौक़ा मिल जाता। वे मेरी मुख़ालफ़त करने वाले मुहल्ले के लोगों से भी लड़ लेतीं, और अपनी-अपनी बहुओं को मेरी तरह बनाने की सलाह देतीं। वे लोगों की हिन्दू-मुसलमान वाली संकीर्ण दृष्टि को दरकिनार कर देतीं। वे सुरेश और सुल्तान में ख़ास फ़र्क़ नहीं करतीं – वे कहतीं जिसे जो खाना-पीना हो, रूखा-सूखा सब मिलजुलकर खा लो। अपना खाना वे एक कोयले की लकीर खींचकर अलग रख देतीं।

एक साल बीत चुका था, अलग-अलग लोगों ने 'हैबियस कार्पस' (बन्दी प्रत्यक्षीकरण) मूव किया। मैं एक बार अम्मा के साथ लाल बहादुर शास्त्री से मिलने भी गयी। अन्ततः एक साल दस माह बाद सभी साथी छोड़ दिये गये। पार्टी ने भी अपनी लाइन पर ज़रूर पुनर्विचार किया होगा। दद्दा से इस बीच मेरी क़तई मुलाक़ात नहीं हुई, हो सकता है वे अण्डरग्राउण्ड रहे हों।

दद्दा के सबसे छोटे (एकमात्र जीवित) भाई मनोहरलाल कानपुर के धनकुही मुहल्ले में आकर रहने लगे। उन्होंने तम्बाकू, पान मसाले का कारोबार शुरू किया, और छोटे से किराये के मकान में दो पत्नियों और आठ-दस बच्चों के साथ रहने लगे। वे दद्दा को अपने साथ रखने के लिए उनके पीछे ही पड़ गये। दद्दा ने भी ढलती उम्र में उनका अनुरोध मान लिया, लेकिन जैसे ही दद्दा घर में रहने लगे, मनोहर दद्दा गृहस्थ की ज़िम्मेदारियों से पलायन कर भाग खड़े

हुए। वे परम स्वच्छन्द हो, इस मन्दिर, उस तीर्थ, कभी योगी, कभी अघोरी के रूप में इधर-उधर भागते-फिरते, उनकी सारी ज़िम्मेदारियाँ मजबूरन शिव शर्मा के गले पड़ गयीं, जबकि इन सबके प्रति उनका रंचमात्र भी दायित्व न था और मनोहर दद्दा – पलायनवादी ग़ैर-ज़िम्मेदार। दशकों बाद जब अन्नू की मृत्यु के बाद मैं खजान के साथ दद्दा से मिलने धनकुही पहुँची तो वे बहुत दुखी हुए, लेकिन बाल केन्द्र की स्थापना की बात जानकर उन्हें इतनी राहत मिली जैसे कोई खोयी वस्तु उन्हें मिल गयी हो। बोले – "बिटिया, इतने बड़े परिवार में तुम्हीं मेरी उत्तराधिकारिणी निकलीं।" खजान ने उनसे कुछ प्रश्न किये और उनके कथन को जब नोट करने लगे, तो अतिसतर्क हो बोले – "नोट क्यों कर रहे हो?" आजीवन विदेह रहा, यह व्यक्तित्व वृद्धावस्था में गृहस्थ का उत्तरदायित्व निभाते हुए एक महान महापुरुष प्रतीत हुआ जो अपनी 'स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी' की सम्पूर्ण पेंशन राशि मनोहर दद्दा के रहते हुए भी उनके परिवार पर खर्च कर रहा था, चाहे खुद की दवा के लिए पैसे न बचें। उनकी मृत्यु पूरे 100 वर्ष की आयु में 1995 में हुई।

सुरेश के छूटकर आ जाने से घर में खुशी पसर गयी। अम्मा के चेहरे पर ख़ास रौनक आ गयी। मुझे जीवन सार्थक लगने लगा, लेकिन सुरेश का मन टूटन और हताशा से भरा हुआ था। एक दिन ठाकुरदास मेरे पास सुरेश को छोड़ देने का प्रस्ताव लेकर आये, तब पता चला कि पार्टी सुरेश और खेतान को इन्फ़ॉर्मर समझ रही है, मुझे विश्वास नहीं हुआ, लेकिन तुरन्त कोई भी जवाब नहीं दिया।

एक दिन किसी व्यक्तिगत काम से सुरेश सी.आई.डी. दफ्तर गये, वहीं इनकी भेंट एक ऐसे तथाकथित पार्टी विश्वस्त से हुई, जो आये दिन नेतृत्व से कुछ लोगों की झूठी शिकायतें कर भ्रम फैला रहा था, और पार्टी द्वारा किया गया निष्कासन उसी का नतीजा था। ये जानते थे कि यह सब झूठ है और पार्टी को सावधान करने की ज़रूरत है, अत: इन्होंने पत्र लिखकर नेतृत्व से पूछा कि "मैं इन्फ़ॉर्मर के नाते जिस दफ़्तर में गया, वहाँ उक्त महोदय क्या करने गये थे? क्या पार्टी ने उन्हें किसी काम से भेजा था? यदि नहीं – तो पार्टी इस तथ्य का पता लगाये, वरना कोई बड़ी हानि हो सकती है।" पार्टी ने इस पर गहराई से छानबीन करना उचित समझा और पाया कि जुझारू कार्यकर्ता के रूप में सी.आई.डी. का आदमी ही पार्टी-तोड़क का काम कर रहा था। तत्समय कानपुर ज़िला पार्टी सेक्रेटरी राम आसरे ने लिखित रूप से भूल स्वीकारते हुए सुरेश से पुन: पार्टी ज्वॉइन करने का अनुरोध किया।

सुरेश के पुराने कांग्रेसी मित्र रमाकान्त शुक्ला की पत्नी माधवी लता मेरे

साथ ही एम.जी. इण्टर कॉलेज में मेरी क्लासफ़ेलो थी। मैं आमतौर पर कॉलेज की सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेती रहती थी, अत: साथी लड़कियाँ और क्लास टीचर चाहती थीं कि कुमारी सभा का कोई एक पद मैं सँभालूँ। मैं कोई ख़ास उत्सुक नहीं थी, लेकिन माधवी के पति रमाकान्त ने माधवी से मेरा मुक़ाबला करने के लिए बहुत दबाव डाला। इलेक्शन हुआ, मैं सेक्रेटरी चुन ली गयी, और माधवी हार गयी। हम दोनों इलेक्शन की बाज़ीगरी से अप्रभावित रहीं, लेकिन दूसरे दिन अख़बार में 'नेताओं की बीवियाँ लड़ीं' हेडलाइन देकर काफ़ी चर्चा की गयी थी। माधवी और मैं और गहरी दोस्त बन गयीं। वह मुझे गंगा किनारे परमट घाट के समीपस्थ बने अपने घर यदा-कदा ले जाती, मेरी रुचि के अच्छे-अच्छे व्यंजन बनाकर मुझे खिलाती, हम दोनों साथ-साथ पढ़ाई करते। कभी-कभी वह मुझे अपने बेहतरीन गहने-कपड़े पहनाकर गुड़िया की तरह सजाती और ख़ूब खुश होती। कभी-कभी हम इण्टरवल के बाद वाली कक्षाएँ 'कट' करके उसके घर से मिली गंगाघाट की सीढ़ियों पर बैठकर पानी में पैर डाले घण्टों बैठे रहते, तरह-तरह की बातें करते। वह कहा करती – "मेरी तुमसे अच्छी दूसरी दोस्त नहीं है।" वह रमाकान्त की शोषक-वृत्ति से क्षुब्ध रहती, कहती – "लोगों को जलने दो, वे नहीं चाहते कि हम दोस्त बने रहें – कमला! तुम मुझे अन्यथा न समझना।" उसकी गहराई तक समा जाने वाली नज़र और सुबकियाँ आज तक मुझे याद हैं।

सुरेश के लौट आने पर मैं निश्चिन्तता अनुभव करने लगी। हीरामन पुरवा की सर्विस और इण्टर की पढ़ाई इस समय काफ़ी काम आयी। परीक्षा में पेपर अच्छे हुए थे। छुट्टियों के शुरू होते ही मेरी तबीयत भी ख़राब रहने लगी। एक दिन सुरेश ने डॉक्टर को दिखाया और जाना कि मैं प्रेगनेण्ट हूँ। यह सुनकर खुश होने की बजाय वे व्याकुलता और दुख से भर गये और किसी भी क़ीमत पर गर्भपात का दबाव बनाने लगे, क्योंकि वे ग़रीबी में बच्चे का बोझ बढ़ाने के ख़िलाफ़ थे। मैं अन्तत: इनकी खुशी के लिए भ्रूण गिराने को तैयार हो गयी। जहाँ भी हम लोग जाते, दाई या नर्स – ग़ैर-क़ानूनी काम के बहुत पैसे माँगते, उन्हें अवैध सन्तान का शक होने लगता... सुरेश ने कामरेड सुल्तान के माध्यम से हाज़रा बेगम को पकड़ा, जिन्होंने कामरेड डॉ. रशीद जहाँ के पास पत्र देकर लखनऊ भेजा। रशीद जहाँ के शल्य प्रयास में रक्तस्राव अधिक हो गया, उन्होंने मेडिकल कॉलेज रेफ़र कर दिया और स्वयं पूर्व योजनानुसार शहर से बाहर चली गयीं। मुझे भर्ती कराकर सुरेश कानपुर चले गये थे। मैं अस्पताल में एकदम अकेली, तबीयत बिगड़ती गयी और ख़ून चढ़ाने की नौबत आ गयी। सभी सोचने लगे कि ज़रूर यह अवैध बच्चा होगा, बहरहाल – वहीं के एक

छात्र डॉक्टर ने धर्म भाई बनकर अपना खून देकर मुझे बचाया और दवाइयों पर भी पैसा खर्च कर दिया। मुझे दस दिन तक अस्पताल में रहना पड़ा। एक दिन रशीद जहाँ ने फ़ोन द्वारा डॉक्टर को कॉण्टैक्ट किया, छुट्टी करायी और कार द्वारा अपने क्लिनिक ले गयीं, वहीं से फिर सुरेश के साथ मुझे कानपुर भेज दिया। घर में कान्ति जिज्जी (बड़ी ननद) आयी हुई थीं। उन्होंने मेरी हालत देखी, सब कुछ जाना। मेरी घोर मूर्खता और कठोरता के लिए धिक्कारा, सुरेश को भी थोड़ा-बहुत डाँटा, मैं चुपचाप सुनती और रोती रही, परन्तु अम्मा और जिज्जी ने मिलकर मेरी बड़ी सेवा की। भरसक आराम दिया और हर स्ट्रेन से बचाया। कुछ दिनों बाद मैं अपने भाई (बाबू) के साथ रामकृष्णा नगर रहने के लिए चली गयी।

सुरेश इन दिनों बेहद तनावग्रस्त थे। बेकार भी थे। कानपुर में नौकरी कहाँ? अत: उन्होंने कानपुर छोड़ लखनऊ जाने का निश्चय कर लिया। कुछ दिन उर्मिला (मौसेरी बहन) के यहाँ मेयो रोड पर रहे, एल.टी. में एडमिशन ले लिया। फिर ट्यूशन पढ़ने वाले छात्र सुमित मुखर्जी के पिता के अनुरोध पर उन्हीं के घर पर एक कमरे में रहने, पढ़ने और पढ़ाने लगे। फ़र्स्ट डिवीज़न में पास करते ही उन्हें लखनऊ डी.ए.वी. कॉलेज में सहायक अध्यापक की नौकरी मिल गयी।

के.एन. तिवारी सुरेश के साथ ही डी.ए.वी. में पढ़ाते थे। उनकी एक बहन (दूर रिश्ते की) श्यामा जज की बेटी थी, उसका विवाह प्रस्ताव सुरेश ने अपने छोटे भाई (जयशंकर 'छोटे') के लिए मान लिया और शादी कर ली। श्यामा रूप-रंग में साधारण थी, गर्वीली और नखरीली, लेकिन जज की लड़की है – इसका सभी परिवारी जनों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। छोटे का व्यवहार मेरे प्रति ख़ासतौर पर एकदम बदल गया। पूरे का पूरा वातावरण बॉस और मातहत का हो गया। मेरी स्थिति एक फ़ालतू व्यक्ति या नौकरानी की-सी हो गयी। मैं घर में रहकर प्राइवेट बी.ए. की तैयारी कर रही थी, अब घरेलू कामों का बोझ और दमघोटू वातावरण मुझे निराशा के गहरे गर्त में ढकेलता जा रहा था। मेरा मन होता कि मैं सुरेश के साथ लखनऊ जाकर रहूँ और पढ़ूँ, लेकिन सुरेश और अम्मा दोनों ही मेरे जाने के (घर बँटवारा हो जायेगा) ख़िलाफ़ थे। दूसरे, घर का काम कौन करता? नौकर रख पाना सम्भव न था, अत: अम्मा और सुरेश ने गुपचुप मन्त्रणा करके छोटे और श्यामा के दबाव में मकान का एक हिस्सा बेच दिया और उसके रुपये छोटे की मुंसिफ़ी की पढ़ाई और घर सँवारने के लिए उन्हें सौंप दिये। मुझे इस बात की भनक तक न लगने दी। मेरे गले में मेरी अम्मा की दी हुई एकमात्र सोने की चेन बची हुई थी, उसे सास ने माँगकर

मुँहदिखायी में श्यामा को दे दिया। मैं पूँजी और रुतबे से गले तक प्रभावित सुरेश को देख-देखकर हैरान थी। मुझे ज़ेवरों से कभी कोई ख़ास लगाव नहीं रहा, लेकिन मेरी माँ को मेरे सारे ज़ेवर छिन जाने और मेरे प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार के लिए बहुत दुख हुआ। उन्होंने इसको शिकायती लहज़े में कहा भी और सभी बहुओं के साथ समानता बरतने का आग्रह भी किया। वे मुझे साथ ले जाना चाहती थी, लेकिन मैंने लखनऊ जाकर रहने और बी.ए. रेग्युलर करने का अपना फ़ैसला सुरेश को सुना दिया। इस पर उन्होंने मुझे परिवार विभाजन का दोषी क़रार दिया, किन्तु अनिच्छापूर्वक लखनऊ ले जाने के लिए बाध्य हो गये। मेरी अम्मा ने दोबारा सोने के गहने मेरे लिए बनवाये, जिन्हें मैंने उन्हीं के पास रखवा दिया।

मैं लखनऊ पहुँचकर कुछ दिन (श्री नारायण तिवारी – क्रान्तिकारी वामपन्थी) बाबू जी और टोपी वाली अम्मा जी के घर अमीनाबाद में रही। यह स्थान लखनऊ पार्टी कामरेडों का शरणगाह था – सारी पार्टी गतिविधियों का केन्द्र-बिन्दु। फिर पाटानाला में कामरेड खदीजा अंसारी के पिता मौलवी साहब के खण्डहरनुमा ख़ाली मकान में रहने चली गयी। मेरे साथ राम भरोसे (राम आसरे के छोटे भाई) भी रहने लगे। वे के.के.सी. से एल.टी. कर रहे थे। हमने घोर मुफ़लिसी में अपनी गृहस्थी शुरू की। काग़ज़ के टुकड़ों, पेड़ के चौड़े पत्तों और मंजन के डिब्बे को साफ़ कर इन सबमें तेल-मसाले आदि रखते। चाहे कितनी दूर जाना हो, एकमात्र पैर हमारे वाहन थे, साइकिल सुरेश ले जाते थे। इस प्रकार हमारा जीवन संघर्षपूर्ण था, परन्तु पराधीन नहीं... खण्डहर के गन्दे मलबे को भरोसे के साथ मिलकर साफ़ करने, लीपने-पोतने और रात-रातभर जागकर पढ़ाई करने पर भी तनाव और थकावट महसूस नहीं होती थी। मैंने महिला कॉलेज में बी.ए. में एडमिशन ले लिया था। वहाँ से कभी-कभी अमीनाबाद में अम्मा जी और अन्य पार्टी साथियों से भी मुलाक़ात करने जाया करती। बाबूलाल भैया जी इप्टा लखनऊ के सर्वेसर्वा थे। मैंने भी इप्टा ज्वॉइन कर लिया और सुभद्रा-कृष्णा जीजी के साथ मिलकर अनेक सामूहिक गानों की प्रैक्टिस करती। कई नाटकों में 1 मई – मज़दूर दिवस आदि पर अभिनय भी किया। सुरेश भी एकाध रोल करते रहते।

1951-52 में लखनऊ विश्वविद्यालय में वामपन्थी छात्रों का वर्चस्व था। कोई न कोई पार्टी से जुड़ा छात्र, छात्र यूनियन का पदाधिकारी चुना जाता। यूनियन हॉल में बड़ी-बड़ी मीटिंगें होतीं। पार्टी के बड़े नेता अतिथि के रूप में बोलने आते। छात्र विभिन्न माँगों को लेकर उग्र प्रदर्शन करते। ऐसे ही एक प्रदर्शन पर पुलिस ने लाठीचार्ज और फ़ायरिंग की, गयन्दर को गोली लगी।

खदीजा अंसारी, रोबिन मित्रा तथा दूसरे छात्रों ने बहुत बवेला मचाया, खूब प्रचार हुआ, अनेक कॉलेजों के छात्र भी जुड़ गये, आखिरकार प्रशासन ने जाँच कमेटी गठित की, और छात्रों की कई माँगें भी मान लीं। मैं लखनऊ में पार्टी की कागज़ी सदस्य नहीं थी, इसलिए किसी विशेष कार्य की ज़िम्मेदारी भी नहीं थी, लेकिन जिस फ़ोरम पर होती, उसी पर सक्रियता से काम करती। मैं भी टैगोर लायब्रेरी के पीछे वाले चबूतरे पर बैठकर रात-रातभर मीटिंगों में हिस्सा लेती और सबके साथ पुलिस को चकमा देकर पुल पार कर भाग निकलती। सुरेश भी कभी-कभी भाग लेते, और मुझे साइकिल पर बैठाकर घर ले आते।

दिसम्बर की छुट्टियों में मैं कानपुर (अपने घर) गयी, वहाँ मेरी माँ ने कहा कि इस बार बच्चा होने पर वे मेरी देखभाल करेंगी। मैं पुन: फ़रवरी में कानपुर दो दिन की छुट्टी लेकर गयी, लेकिन असमय ही तकलीफ़ शुरू हो गयी, और घर पर ही बच्चे (लड़का) का जन्म हो गया, जो तुरन्त ही मर गया। इसी प्रकार 1953 में फिर एक बच्ची हुई, जो पुन: उसी दशा को प्राप्त हुई। सच बात यह थी कि गर्भावस्था में जितना आराम और पौष्टिक आहार लेना चाहिए था, वह नहीं मिल पाता था।

1953-54 में सुरेश ने भाग-दौड़ करके क्रिश्चियन कॉलेज एल.टी. में मेरा एडमिशन करवा दिया। केवल चार लड़कियाँ और बाक़ी सब लड़के, मैंने कॉलेज प्रोग्राम में बिना हिचक मैडम मण्टेसरी का रोल मिनी स्कर्ट पहनकर किया। सरस्वती वन्दना में वीणा पकड़कर सरस्वती भी बन गयी, जबकि शेष तीनों ने हिस्सा लेने से इनकार कर दिया। इस दरम्यान एक बात और मुझे परेशान करती थी – ठाकुरदास के छोटे भाई देवकी लल्ला भी मेरे साथ एल. टी. कर रहे थे, उन्हें लड़कों से मेरा बात करना बहुत बुरा लगता, सन्तोष साल्वे की सुन्दर अक्षरों में सिस्टेमेटिक लिखी नोट्स कॉपी माँगकर मैं घर ले आयी, "यह लेना-देना क्यों?" वे शक की निगाहों से मुझे देखते और मुझ पर नियन्त्रण रखना चाहते। मैंने सुरेश को बताया तो बोले – "कुछ लोगों का डोमिनेटिंग नेचर होता है।" पर सुरेश ने कभी अविश्वास नहीं किया।

मई 1954 में हम लोगों को डी.ए.वी. होस्टल के पीछे तिवारी नगर/ मोतीनगर में मोटर गैराज का खाली कमरा किराये पर मिल गया। यह डी.ए.वी. के मैनेजर चन्द्रदत्त तिवारी के बड़े भाई इन्द्रदत्त का मकान था, जो श्यामा के दूर के रिश्तेदार थे। इन्द्रदत्त जी का लड़का विश्व मोहन नौवीं में डी.ए.वी. में पढ़ता था और पाण्डेय जी का मुरीद हो गया था। विश्व मोहन के बाबा (चन्द्रदत्त के पिता रासबिहारी तिवारी ने स्वतन्त्रता की लड़ाई में भाग लिया था, उनके पास बहुत अधिक ज़मीन थी, जिस पर उन्होंने अनेक जन हितकारी

संस्थाएँ खड़ी की थीं, जैसे डी.ए.वी. कॉलेज, मोतीनगर बालिका विद्यालय, अनाथाश्रम, मोती नगर महिला नर्सिंग होम, ग़रीबों की (धोबी) बस्ती आदि। उनकी और भी योजनाएँ रही होंगी, लेकिन उनके उत्तराधिकारी लड़के नाकारा निकले। इन्द्रदत्त, ओमदत्त ज़मीन बेच-बेच खाते रहे, भृगु दत्त ने ज़रूर आर्य समाज प्रतिनिधि सभा, कई स्कूल आदि बनवाये लेकिन जल्दी ही मर गये – चन्द्रदत्त ने आजीवन शादी नहीं की, सोशलिस्ट पार्टी ज्वॉइन की और घर-गृहस्थी व ज़मीन-जायदाद के पचड़ों से दूर एक सच्चरित्र, ईमानदार व्यक्ति की प्रसिद्धि से मण्डित हुए, इस समय वे शहीद शोध संस्थान (लखनऊ माण्टेसरी स्कूल, पुराना किला, सदर में स्थित) के सर्वेसर्वा हैं। सुरेश से उनकी दोस्ती थी, और वे प्राय: हमारे यहाँ आकर लोगों से बतियाते रहते।

उन दिनों इस छोटे से कमरे में कई लोग रहते थे। कानपुर छात्र यूनियन के पुराने साथी सुशील मास्टर साहब, बाबूलाल वर्मा (पार्टी नाम) भैया जी (अपना घर छोड़ दिया था), सुरेश के मौसेरे जीजा जी (असहयोग आन्दोलन के भागीदार) श्यामा के व्यवहार से त्रस्त होकर आ गयीं अम्मा और कोयला-खान की मज़दूरी छुड़वाकर पढ़ाई करने के लिए बुलाये गये सुरेश के सबसे छोटे भाई हरी जो डी.ए.वी. से हाई स्कूल कर रहे थे – साथ रहा करते थे। इस छोटे कमरे में ही अँगीठी पर खाना बनाया जाता, सड़क से पानी लाना पड़ता, (हाँ, मुझे अन्दर जाकर बाथरूम इस्तेमाल करने की सुविधा ज़रूर मिली हुई थी) और पढ़ना तथा सोना भी पड़ता, लेकिन सभी लोग मिल-बाँटकर काम करते और परस्पर सहयोग-सूत्र में बँधे रहते। जीजा जी मुझे अंग्रेज़ी पढ़ाते, एल.टी. के लेसनप्लान बनवाते, मटिरियल एड जुटाते। उन्होंने परीक्षा की तैयारी हेतु बहुत बढ़िया 'क्वेश्चनायर' बनवाया। डी.ए.वी. के मैदान में शाम को साइकिल चलाना सिखाते। भैया जी तड़के उठकर बर्तन माँज डालते, पानी ला देते, अँगीठी सुलगाकर सबके लिए चाय बनाते और एक कप पीकर निकल जाते, सुशील मास्टर बाज़ार के काम निपटाते, अपने पास से पैसा ख़र्च कर देते, हरी सुरेश की निजी सेवा में तैनात रहते, शाम का चाय-नाश्ता बनाते, घर की साफ़-सफ़ाई भी करते रहते, मैं और अम्मा सबका खाना बनाते, इस प्रकार आने-जाने वालों को यह माहौल बड़ा प्रेरणादायी लगता। सुरेश अपने विद्यार्थियों को बाहर किनारे चबूतरे पर पढ़ाते रहते। हमारी जीवन-शैली लोगों को साम्यवादी मॉडल की लगती थी।

अगले वर्ष बग़ल का घर (ओमदत्त तिवारी का मकान) किराये पर मिल गया। मोटर गैराज में इन्द्रदत्त जी की खड़खड़िया मोटर रहने लगी।

सुरेश ने डी.ए.वी. के ए.पी. गुप्ता, शिया के वज़ीर हसन आब्दी, गिरधारा

के रामस्वरूप कमथान तथा बलराज सक्सेना जैसे वामपन्थी रुझान वाले शिक्षकों के साथ माध्यमिक शिक्षकों का एक ग्रुप तैयार किया। विचारधारा के आधार पर इसे प्रगतिशील जुझारू तेवरों के साथ माध्यमिक शिक्षकों के सुस्त, शर्मीले, प्रतिक्रियावादी ग्रुप के मुक़ाबले विपक्षी पार्टी की तरह इलेक्शन में उतारा। यद्यपि साथी हार गये, लेकिन इनके साहस और सक्रियता से आम शिक्षक बड़ा प्रभावित हुआ और ए.पी. गुप्ता को लखनऊ का ज्वॉइण्ट सेक्रेटरी बनाने के लिए (कृष्णा शंकर मिश्र) मन्त्री महोदय विवश हो गये। सालभर में ए.पी. गुप्ता तथा बलराज सक्सेना ने हर गली-कूचे को छान डाला। कामरेड कु. शान्ति खन्ना (मिसेज़ बोरकर) भी साइकिल लेकर इनके साथ जुट गयीं, और सिद्धान्तकार आब्दी साहब तथा किंगमेकर पाण्डेय जी की गाइडेंस में एक सशक्त दल तैयार हो गया। इसी समय सहायक अध्यापक संघ (ए.टी.ए.) और प्रधानाचार्य शिक्षक संघ (पी.टी.ए.) दोनों ग्रुप एक हो गये। इनके एकीकरण में मुख्य भूमिका निभाते हुए पाण्डेय जी ने प्रदेश स्तर पर लोगों को जोड़ा। झाँसी जालौन से ठाकुरदास, कानपुर से निर्मला, कोमल, रामसुत, मूलकृष्णा चतुर्वेदी आदि, इलाहाबाद से श्यामनारायण, गोरखपुर से राम निहोर ठकुराई तथा अन्यान्य ज़िलों से लोगों को पत्र लिख-लिखकर तैयार किया। संगठन को पार्टी से भी जोड़ा और शिक्षा पद्धति, सेवा-शर्तों तथा शिक्षकों की माँगों सम्बन्धी दस्तावेज़ भी तैयार किये। फलतः ठाकुरदास, कोमल, आयूब, मान्धाता, ओमप्रकाश शर्मा, सुदामा तथा ऐसे ही अन्यान्य प्रगतिशील साथियों की रेग्युलर बैठकें आयोजित होने लगीं। इन लोगों ने भी अपने-अपने ज़िलों में पर्चे, पोस्टर, पैम्फ़लेटों के द्वारा प्रगतिशील जनाधार तैयार किया और माध्यमिक शिक्षक संघ के इलेक्शन में, कन्वेंशन और कॉन्फ़्रेंस आदि में संघ के संविधान और दिशा का रूप बदलने में कामयाबी हासिल की। पाण्डेय जी डी.ए.वी. में शिक्षक थे, अतः हर जगह सीधे अधिकारपूर्वक हस्तक्षेप करते हुए अपेक्षित दिशा की ओर संगठन को गति देने में सफल हो जाते।

1958-60 के दो सालों में सुरेश यानी पाण्डेय जी ने स्कूल से अवैतनिक छुट्टी लेकर लखनऊ विश्वविद्यालय में एम.ए. (अंग्रेज़ी) ज्वॉइन कर लिया। दूसरे साल नौकरी छोड़ दी और पूरी तरह पढ़ाई में जुट गये। दो साल की अथक मेहनत के फल का परिणाम बहुत अच्छा रहा। यूनिवर्सिटी में इनकी सेकिण्ड पोज़ीशन आयी, और वायवा में आये हुए वाराणसी के मेनन साहब ने बनारस यूनिवर्सिटी में बिना इण्टरव्यू के ही इनकी नियुक्ति कर ली। जुलाई के पहले हफ़्ते में ज्वॉइन करने से पहले उन्होंने लखनऊ ज़िला एम.एस.एस. की तमाम ज़िम्मेदारियाँ ए.पी. बलराज के साथ ही मुझे भी सौंपी।

नये सत्र में एम.एस.एस. ज़िला लखनऊ में हमारे ग्रुप ने अपना पैनल बनाया, महिला रिज़र्व सीट से उपाध्यक्ष शान्ति बोरकर और पुरुष उपाध्यक्ष की सीट से मार्कण्डेय चन्द को पराजित कर मैं पहली बार लोगों की नज़र में आयी। मैं भी सुबह शाम कभी-कभी रात दस बजे तक भी ए.पी. बलराज, शान्ति बोरकर, किशोरी सिंह, ए.के. घोष आदि के साथ-साथ दर-दर घूमी। मिशनरी (अमेरिकी) स्कूल लालबाग़ में भी सदस्य बनाये, लोगों को जागरूक बनाने और उनसे संघ के बैनर तले अपनी सेवा-शर्तों के सुधार हेतु संघर्षरत होने का आह्वान किया। अब ज़िले से प्रदेश स्तर तक संघ में स्पष्ट रूप से दो विचारधाराओं का ध्रुवीकरण दिखने लगा। प्रतिक्रियावादी जनसंघी मानसिकता के ग्रुप का नेतृत्व महेश्वर पाण्डेय, वाजपेयी जी आदि कर रहे थे, तो प्रगतिशील ग्रुप में ओमप्रकाश, मान्धाता, ठकुराई, प्रेमबाला, निर्मला, मिथिलेश वशिष्ट, ठाकुरदास वैद्य, मूलकृष्णा चतुर्वेदी, आयूब आदि-आदि उत्साही नवयुवकों की लाइन लगी थी।

मेरा एम.एस.एस. का जीवन जितना सफल रहा, घरेलू जीवन उतना ही जटिल और असफल। 1956 से 1958 दारुण वर्ष। 1957 में एक साल की आभा काल-कवलित हो गयी और 1958 में एक गोद ली हुई बच्ची गोद सूनी कर गयी। सुरेश की उपेक्षा भरी दृष्टि और अम्मा के तन्त्र-मन्त्र, पूजा-पाठ के विस्तृत होते चक्कर मेरी मानसिक यातना बढ़ाते रहते।

सुरेश फ़र्स्ट डिवीज़न करके बनारस विश्वविद्यालय में प्रवक्ता नियुक्त हो गये।

1961 में लखनऊ विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी प्रवक्ता के पद पर नियुक्ति मिली तो बनारस से वापस आ गये। 1964 में बुलबुल तीन साल की और मैना 5-6 महीने की हो गयी। मेरा भयभीत मन अब कुछ-कुछ आश्वस्त हो गया था कि चलो, ये दोनों बच्चियाँ जीवित रह जायेंगी।

अम्मा श्यामा के घर से लौटीं तो विक्षिप्त की तरह हर समय अपमान का बदला लेने की बहकी-बहकी बातें करतीं। पागलपन बढ़ता गया, यह हिंसक रूप लेता जा रहा था।

आश्चर्य! वे सुरेश को पहचानतीं और बेहद प्यार करतीं, पर उनकी प्यारी बहू कमला, एक बच्ची को उनकी गोद में डालकर 'मर गयी!' कभी-कभी कमला को याद कर रोने लगतीं – मुझे वे जबरन घर में घुस आयी कोई बन्दनवारी (काल्पनिक औरत) समझतीं, और घर-बाहर करने के लिए हिंसक हो उठतीं।

सुरेश मुहल्लेवालों के कहने पर भी न अम्मा को पागलख़ाने भेजते, न

कमरे में ही बन्द करते, वे सर्वत्र एक बेंत लेकर घूमती रहतीं। मुझे देखते ही मारने पर उतारू हो जातीं। स्कूल लौटने के समय दरवाज़े पर डण्डा लेकर खड़ी रहतीं, देखते ही दूर तक खदेड़तीं – मैं भूखी-प्यासी तेज़ धूप या बरसात में सड़कों पर भटकती रहती, कभी-कभी हजरतगंज में संस्कृत लायब्रेरी में जा बैठती। बुलबुल के लिए मेरा भयभीत मन व्याकुल रहता। पागलपन के साथ ही अम्मा की ताक़त बढ़ती जा रही थी – वे कमरा अन्दर से बन्द कर दस किलो आटे की पूड़ियाँ तल डालतीं, कोयले की अँगीठी को डालडा डालकर तेज़ करती रहतीं। घर के बर्तनों को होस्टल की चहारदीवारी पर लाइनवाइज़ सजा आतीं और सड़क पर खड़े होकर डण्डा ऊपर उठाये हुए आकाश की ओर देखते हुए मृत पूर्वजों के नाम ले-लेकर उन्हें खाना खाने के लिए बुलाती रहतीं। एक बार चुपके से आकर मुझ पर हिंसक हमला किया। मेरी चीख़ों से दौड़कर मुहल्लेवालों ने छुड़ाया। मेरे गुच्छबाल नोंच लिये। मैं बेहोश हो गयी। दो-चार दिन उन्हें बन्द रखा गया, फिर वे खोल दी गयीं। अजब माहौल था।

बुलबुल बहुत ही समझदार और निडर थी, मुझसे टिफ़िन में खाना भरवा कर अम्मा के कमरे में जाकर दे आती। उसे वे छिपाकर रखी हुई चीज़ें खिलाना चाहतीं, गाना और कहानियाँ भी सुनातीं, बुलबुल को गोद से उतरने न देतीं। तब लगता उनका पागलपन न जाने कहाँ तिरोहित हो गया है। मैना को महरी की लड़की समझ मार डालना चाहतीं। वह अम्मा को देखते ही डर जाती, सुबक-सुबककर रोती और मेरी गोद में छिपी रहना चाहती। लेकिन कामकाजी माँ की जटिल ज़िन्दगी अपने बच्चों को सान्निध्य कहाँ दे पाती? मैना एक साल तक सुरेश के साथ गोरखपुर में ठकुराई के घर रही और पली।

सुरेश डेपुटेशन पर गोरखपुर विश्वविद्यालय बुला लिये गये थे, वहाँ वे अंग्रेज़ी प्रवक्ता के रूप में पाँच साल रहे।

अम्मा को अपनी मृत्यु का शायद आभास हो गया था, कैसी भी स्थिति क्यों न हो – उन्हें हम लोगों के पास ही रहना पसन्द था, लेकिन अब वे गंगा किनारे अपने घर में रहने की रट लगाये थीं। कानपुर गयीं, मेरी देवरानी (शन्नो) अपने मायके चली गयी। एक दिन बच्चा उन्हें अकेली छोड़ किसी काम से बाहर चले गये, उसी समय उन्होंने यह दुनिया छोड़ दी। हम लोग सूचना पाते ही अठारह दिन के अन्नू को लेकर कानपुर पहुँच गये।

तीन बच्चों के साथ मैं अकेली लखनऊ में रहने लगी। स्कूल और घर-बाहर के काम सँभाले। डी.ए.वी. का एक चपरासी मैना को देख लेता और बुलबुल तथा अन्नू को सँभालने हेतु चपरासी की बीवी कुछ समय के लिए घर पर आने लगी। ज़िन्दगी की गाड़ी सम पर रह भी कैसे सकती है?

स्कूल में असिस्टेण्ट योग्य शिक्षक की मिथ्या प्रशंसा के बहाने मुझे काम पर काम थमा दिया जाता। मैगजीन हो या सांस्कृतिक कार्यक्रम, आयोजन, असेम्बली में बच्चों को बोलना हो या दूसरे स्कूलों के साथ प्रतियोगिताएँ, बच्चों को तैयार करने का काम भी मुझे करना पड़ता। कक्षाएँ लेनी ही पड़तीं, लेकिन वेतन अल्प एल.टी. ग्रेड का प्रवक्ता पद पर प्रमोशन के लिए मेरी योग्यता अपूर्ण थी, यह बात हर समय खटकती। मैंने दो साल की छुट्टी लेकर एम.ए. करने का फ़ैसला ले लिया, और गोरखपुर यूनिवर्सिटी में हिन्दी एम.ए. में प्रवेश मिल गया। दोनों लड़कियों को स्कूल भेजती, अन्नू को भगवान भरोसे अकेले घर में छोड़ बाहर से ताला लगा कक्षाएँ अटैण्ड करने के लिए जाती, सुरेश मुझसे चाभी लेकर ताला खोलते और अन्नू को देखते, फिर भी लगभग डेढ़ घण्टा सूने अकेले घर में बच्चा रहता। एक दिन जब मैं नहा रही थी, अन्नू पलंग से नीचे गिरा, वह रोते और मुझे ढूँढ़ते हुए दरवाज़े को धक्का देकर कमरे के बाहर चबूतरे पर से पुनः फिसलकर झाड़ियों में जा गिरा, मैं किसी प्रकार कपड़े लपेटे बाहर आयी, देखा उसके सिर पर चोट लगी थी, ख़ून बह रहा था। सुरेश विश्वविद्यालय से आ गये थे। डॉक्टर को दिखाया, पट्टी बँधायी। कुछ दिन बाद उसे मुन्नी जिज्जी और यशकरण लाल के घर पालन-पोषण हेतु सौंप आये। दो साल बाद एम.ए. करके 1968 में मैंने पुनः लालबाग़ ज्वॉइन कर लिया।

मोतीनगर के घर में रह पाना दूभर हो गया था। अन्य किरायेदारों के साथ मैं भी पिसती, कभी बत्ती काट दी जाती, कभी नल टूट जाता। मैंने स्कूल के समीपस्थ, मुरलीनगर में किराये पर घर लेकर सामान शिफ़्ट कर लिया, और सोहन लाल व अक्षयवर मल्ल के सहयोग से निराला नगर का यह प्लॉट मेरे नाम एलाट हो गया।

मुरली नगर का मकान एम.एस.एस. दफ़्तर और स्कूल दोनों के पास था। एम.एस.एस. के जुझारू साथी एक बड़ी लड़ाई की तैयारी कर रहे थे। एम.एस. एस. दफ़्तर पास होते हुए भी लोग मेरे ही घर पर बैठते, मीटिंगें करते और विचार-विमर्श में मुझे भी समय देना पड़ता। प्रदेश स्तर तक एक-एक शाखा कोठारी कमीशन को लागू करवाने की माँग सरकार से कर रही थी।

नवम्बर 1968 में शिक्षक आन्दोलन ने तेज़ी पकड़ ली। शिक्षक हड़ताल और जेल भरो का आह्वान – पहला प्रदेशीय जत्था मान्धाता सिंह महामन्त्री के नेतृत्व में जेल के लिए भेजा जाना था – कई ज़िलों के शिक्षक एकत्र थे, लेकिन राजधानी लखनऊ से कोई भी नहीं दिखा। यह कैसी बेइज़्ज़ती – मैं हूँ लखनऊ की प्रतिनिधि... और नारे लगाते हुए इसी जत्थे के साथ अपने को

गिरफ़्तार कराया। न्यूज़ बुलेटिन ने उसी दिन फ़्लैश किया – 'उत्तर प्रदेश की पहली महिला शिक्षक सत्याग्रही गिरफ़्तार'।

घर पर सात साल की बुलबुल, पाँच वर्ष की मैना और ढाई वर्ष का अन्नू अकेले थे। सुरेश को बाद में पता चला। अकेली महिला पुरुष बैरक में कैसे रखी जाती। जेल इंचार्ज ने रात को 11 बजे कुछ लिख-पढ़ लेने के बाद मुझे मॉडल जेल के अस्पताल कक्ष में भेजा और एक महिला क़ैदी मेरे साथ रखी गयी।

महिलाओं के एक पूरे जत्थे का 'जेल भरो' कार्यक्रम 2 दिसम्बर को था। तब तक मैं वहीं रही। मेरा बिस्तर सुरेश पहुँचा गये थे, और बच्चों की देखरेख तो क्या, खुद भी दिन-दिन रात-रातभर 'जेल भरो' कार्यक्रम की सफलता हेतु शिक्षक जत्थे तैयार करवाते, पर्चे लिखते, न्यूज़ तैयार करते और ठकुराई वग़ैरह शीर्ष साथियों को दिशा भी देते – उन्होंने पार्टी से भी इस बाबत जीवन्त सम्पर्क साधा।

नन्ही बुलबुल मानो कोई बड़ी ज़िम्मेदार हो। ऊँची मेज़ पर स्टूल लगाकर चढ़ जाती और एक कोने में बैठकर चाय बनाती, दूध गरम करती, मैना और अन्नू को पिलाती और घर की देखरेख करती। महरी की सहायता से वह खाना भी बनाने लगी। आने-जाने वाले शिक्षक चाचाओं को भी चाय पिला देती – वे सब कर्मठ बच्ची को देखकर चकित थे। हमारे विद्यालय के शिक्षक तथा ज़िले के शिक्षक साथी बच्चों को अपने-अपने घर रखते रहे।

जब महिलाओं का जत्था लखनऊ ज़िला जेल में आया, तो मुझे भी निर्मला आदि ने वहीं शिफ़्ट कर देने की जद्दोजहद की और लगभग एक हफ़्ते बाद मैं उत्साह में भरी प्रश्नोत्तर प्रणाली की तरह नारे लगाते हुए ज़िला जेल में मिथिलेश वशिष्ठ, निर्मला आदि महिला साथियों के पास पहुँच गयी।

हमारी महिला बैरक में बहुत-सी हत्या, जेबकतरी, माफ़िया आदि अपराधों की क़ैदी भी थीं, उनमें से कुछ को हमारी सहायता के लिए लगा दिया गया, जो हमारे निर्देश पर खाना आदि तैयार करती थीं, हम लोगों ने उनसे बातचीत की, और पाया कि उनके अपराधों की जड़ में पुरुषसत्ता का वर्चस्व और समाज का शोषण है – जिससे मुक्ति के प्रयास में उक्त अपराध होते हैं। थकी, हारी, अपमानित, प्रताड़ित, एकाकी औरत और क्या करे? रामबेटी, सीता, कुसुम आदि की ऐसी ही कहानी थी।

इसी जेल में मेरी एक छात्रा शमीम रहमानी भी क़ैदी थी, वह डॉ. गौतम हत्याकाण्ड की अभियुक्त थी। निर्मला ने मुझसे कहा – "तुम हर जगह अपना रोब फैलाती हो?" मैंने पूछा – "क्यों क्या हुआ?" तब पता चला कि जब मैं

ज़ोर-ज़ोर से इन्क़लाब-ज़िन्दाबाद के नारे लगाकर आ रही थी, शमीम को पता चल गया कि मिसेज़ पाण्डेय इस बैरक में आ रही हैं, तो वह शर्म और डर के मारे 'टट्टी घर' में छिप गयी। उसकी कबर (जेल का पलंग) गेट के पास था, और वह मसहरी डाले बैठी रहती, उसका अत्यन्त गोरा रंग और एड़ियाँ छूते लम्बे काले बालों को, जेलर व उसके साथ दूसरे अवांछित तत्व जब-तब घुस आते और घूरते रहते। वह रात में सबकी नज़रों से छिपाकर अपने अति लम्बे बालों को परात में बिछाकर स्वयं पलंग पर पानी भरा भगौना रखकर बैठती और धोती। मैं अगर कभी उसके पलंग के पास होकर गेट से बाहर जाती, तो वह सिर झुकाकर तुरन्त खड़ी हो जाती, बाक़ी लोगों के लिए नहीं। मैंने महसूस किया कि महिला अस्मिता की रक्षा जेल तक में नहीं है।

लगभग ढाई महीने बाद राजकर्मचारियों के समान वेतन यानी समानता के सिद्धान्त को मान लिये जाने के बाद हम लोग बिना शर्त बाहर आये। इस बीच बॉण्ड भरकर छूट जाने की पेशकश के तहत सैकड़ों शिक्षक निकल आये, लेकिन सुरेश के लाख समझाने पर भी मैंने यह प्रस्ताव ठुकरा दिया – निर्मला, मिथिलेश वशिष्ठ, विमला और लखीमपुर की कलावती – हम चारों 13 फ़रवरी को ही घर आये।

1970 में पुन: दिये गये आश्वासनों के कार्यान्वयन के लिए निकम्मी सरकार के आँख-कान खोलने हेतु ज़बरदस्त आन्दोलन हुआ। इस बार पूर्व एम. एल.सी. माया चौधरी के नेतृत्व में लखनऊ में विशाल जनसमूह ने गिरफ़्तारी दी। माया जी, वक्ता तो अच्छी थीं ही, मिनिस्टरों/अफ़सरों की खड़ी हुई कारों की छतों पर चढ़कर इतनी ज़ोर से उछलीं-कूदीं कि छतें पिचक गयीं, लोग विधानसभा की रेलिंग तोड़ने लगे, कुछ कूदकर परिसर के अन्दर भागे। पुलिस और शिक्षकों की मानो दौड़ प्रतियोगिता हो, अन्तत: एक के बाद एक ट्रक आते रहे और हम सब जेल पहुँचाये गये। इस बार महिलाएँ दूध पीते बच्चों को लिये हुए गिरफ़्तार हुईं – जैसे चन्द्रलीला द्विवेदी, सुमन कटारिया आदि। अपनी घर-गृहस्थी की ज़िम्मेदारियों को भूल गयीं। उनमें कहीं अधिक उत्साह था।

इस बार एम.एस.एस. के प्रदेशीय अध्यक्ष के चुनाव में बहुत गहमागहमी हुई। जनसंघ तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों द्वारा समर्थित उम्मीदवार महेश्वर पाण्डेय के ख़िलाफ़ प्रगतिशील ग्रुप ने ओमप्रकाश शर्मा को अध्यक्ष पद हेतु खड़ा किया। मुझे शर्मा जी का इलेक्शन एजेण्ट बनाया गया (असल में सुरेश पाण्डेय तथा पार्टी के साथी कोमल, अयूब वग़ैरह काम कर रहे थे, मेरा तो नाम प्रयोग कर रहे थे) वोटिंग में डाक द्वारा प्राप्त बैलेटों को ख़ासकर बड़े पैमाने पर हेरफेर, धोखाधड़ी करके रिटर्निंग ऑफ़िसर से महेश्वर पाण्डेय को

विजयी घोषित करवा दिया गया। कुछ सुझाव आये कि फिर से गिनती हो, कुछ ने कहा कि इसका विरोध दाखिल किया जाये – अधिक सुझाव आये कि फिर से गिनती हो या इलेक्शन कराया जाये, किन्तु ओमप्रकाश ने इस गलत घोषणा को अस्वीकार कर दिया। सुझावों को नहीं माना, लोगों ने ओमप्रकाश को बहुत समझाया कि संगठन को तोड़ना गलत होगा, लेकिन चारों ओर से आवाज़ें यह आने लगीं कि धोखाधड़ी तब भी बन्द नहीं हो सकती; ओमप्रकाश ने व्यंग्य में कहा – और इलेक्शन (दोबारा) का खर्च कौन देगा? आप देंगे? मैडम आप देगीं? अन्ततः जोश में भरे, उत्साही नौजवान साथियों ने ओमप्रकाश शर्मा गुट के नाम से प्रगतिशील ग्रुप को अलग कर लिया। उत्साह इतना था कि प्रदेशभर में चुस्त-फुर्त शाखाएँ दो भागों में बँट गयीं – ग्रुप ने खूब धन इकट्ठा कर लिया और ओमप्रकाश शर्मा ने प्रेस कॉन्फ्रेंस में घोषणा कर दी, अलग कॉन्फ्रेंस हुई, संविधान में फेरबदल किया गया और हर ज़िले के जुझारू साथी पदाधिकारी बने। मुझे लखनऊ ज़िले का मन्त्री बनाया गया। मैं मण्डल स्तरीय सह-संयोजक भी बनायी गयी। पाण्डेय जी ने ग्रुप को जुझारू बनाने का काम किया – मुझे मोटर साइकिल पर पीछे बैठाकर वे लखनऊ ज़िले और देहात के एक-एक स्कूल में गये। लोगों की समस्याओं, उनके घर के पते, स्कूल की हर प्रकार की स्थितियों को मैंने नोट करना शुरू किया। मान्यताप्राप्त वित्तविहीन नगर महापालिका, सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी सभी प्रकार के स्कूल शिक्षकों के नाम काम और शक्ल से मैं परिचित हो गयी। मुझे काम का तरीक़ा या मीटिंगों में बनावटी भाषण करना चाहे न आता हो, लेकिन कोई ऐसी मीटिंग, आयोजन, ज़रूरत या कार्यक्रम नहीं था, जहाँ मैं पहुँची न हूँ। कानपुर के पार्टी साथियों, समर्थकों आदि की बहुत बड़ी संख्या अपना बढ़चढ़कर योगदान करती – शिक्षा के राष्ट्रीयकरण की माँग से लेकर शिक्षा अधिनियम 1921 की अनेक धाराओं पर बहस, संशोधित कार्यान्वयन आदि पर वे लोग व्यवस्थित दस्तावेज़ प्रस्तुत रखते, जो पारित हो जाते। लखनऊ में पार्टी के दो-तीन साथी थे, वे भी आत्मकेन्द्रित और हर बात के लिए पाण्डेय जी पर निर्भर... अतः लखनऊ कमज़ोर रहता। मैं झूठमूठ में हाँ में हाँ मिलाकर छुट्टी पा जाने की बजाय चीज़ों को छानबीन करके, मेहनत करके, परखकर स्वीकार करती – इसलिए ओमप्रकाश से लेकर ज़िला स्तर तक के ऐसे सारे चापलूसीपसन्द दिखावटी लोग हमारे ग्रुप में सेंध लगाने के लिए तैयार किये गये।

लखनऊ में केवल मैं निर्भीकतापूर्वक सक्रिय थी और सुरेश मुख्य तथा प्रदेश स्तरीय बैठकों में इस प्रकार तर्कपूर्ण प्रस्ताव रख देते कि ओमप्रकाश तथा

उनके चापलूस समर्थकों की मनचाही न हो पाती। अतः कहा जाने लगा कि सुरेश माध्यमिक शिक्षक नहीं हैं, उनकी एम.एस.एस. में दख़लन्दाज़ी ग़लत है – किंगमेकर को यह अपमान लगता लेकिन उनका सीधे हस्तक्षेप कम हो गया। पार्टी मीटिंगों में प्रदेश पार्टी सचिव शंकर दयाल तिवारी लाइन के बजाय इधर-उधर की लच्छेदार बातें और अपनी पत्नी तथा कुत्ते की बातें करते रहते और बहुत समय फ़ालतू बर्बाद होता – और घर वापस आकर किशोरी सिंह, यशकरण, शान्ति बोरकर, ए.पी. गुप्ता, वेद कुमार शास्त्री और मैं मनमाने ढंग से काम करते रहते। शान्ति बोरकर हमेशा दूसरों पर निर्भर रहतीं, लेकिन मैं स्वयं निर्णय ले लेने में भी सक्षम थी, इसलिए ज़िले में मेरी प्रसिद्धि अधिक थी – मैं हर इलेक्शन में जीत जाती और शान्ति जी हार जातीं। तोड़क लोगों ने कहना शुरू किया कि मैं महेश्वर पाण्डेय गुट से मिली हुई हूँ, ब्राह्मणवाद चलाती हूँ, और शान्ति जी तथा कायस्थ वेद कुमार शास्त्री आदि को हराने का काम करती हूँ। ए.पी. गुप्ता पाण्डेय जी को 'आर्म चेयर पोलिटिशियन' कहते। इस परिस्थिति में पाण्डेय जी घर पर रहते और बड़बोले, लफ़्फ़ाज़ पियक्कड़ों की राय को ठीक मानते। इस प्रकार ज़िले में प्रगतिशील ग्रुप के मज़बूत होकर उभरने की बजाय इसके दो ग्रुप आपस में ही लड़ने लगे। शान्ति जी के चापलूस समर्थक जो उन्हें समझाते, वे उसी समझ को लेकर दौड़ जातीं। हालाँकि वे कार्यकर्ता बहुत अच्छी थीं, लेकिन समझ कम और व्यवहार तीखा।

मैंने ज़िले की परिस्थितियों के अनुसार अपनी समझ से काम शुरू किया तो पाण्डेय जी से ही पहले टकराव हुआ। वे पवन, रामगोपाल, उमाशंकर टण्डन, देवेन्द्र मिश्र आदि के साथ कभी अपने घर पर तो कभी उन लोगों के घर जाकर पीने-खाने में लग जाते। बच्चे फिर अकेले रह जाते, न मैं घर पर रहती न पाण्डेय जी। एक बार अन्नू घर से भागकर पैदल ही सिंगार नगर (यशकरण जिज्जा के पास) जा पहुँचा, अभी वह केवल पाँच ही वर्ष का था। जीजा जी शाम को घर आये – मैं तेलीबाग़ स्कूल, संस्कृत पाठशाला और क्वींस के शिक्षकों के वेतन-निर्धारण के सही-ग़लत पर डिस्कशन में लगी हुई थी, उन्होंने हमसे पूछा – "अन्नू कहाँ है?" मैंने समझा कि वह बाहर खेल रहा होगा। सुरेश ने उसे मुहल्लेभर में खोजा, नहीं मिला, तो पुलिस रिपोर्ट लिखाने को तैयार हुए। जीजा जी ने तब बताया – "अन्नू हमारे यहाँ आलमबाग़ अकेले पैदल पहुँचा। नन्हा बच्चा! कहीं रास्ता भूल जाता, एक्सिडेण्ट हो जाता या कोई उठा ले जाता तो! तुम जैसे लापरवाह दम्पति के पास यह बच्चा नहीं रह सकता।" उन्होंने राजनीति को गालियाँ दीं, खूब डाँटा और हम लोगों को

कहा – "उसके धूल-धूसरित पैर सूज गये हैं और उसकी अम्मा (मेरी ननद) उसके पैरों को गरम पानी से धो-पोंछकर मालिश कर रही है।" दूसरे दिन सुरेश अन्नू को ले आये।

1973-74 में दोबारा फिर 'जेल भरो' आन्दोलन का आह्वान किया गया। लेकिन अब ओमप्रकाश शर्मा एण्ड कम्पनी हम लोगों की स्थिति हास्यास्पद बना देते। मैं, शान्ति बोरकर तथा दूसरे प्रदेश ज़िलों से भी शिक्षक फूलमालाएँ पहनकर जेल जाने के लिए आते, उधर अधिकारी वर्ग से समझौता हो जाता। यूनिट में पूछा जाता – कौन-कौन-सी माँगें मानी गयीं, क्या हुआ? लेकिन हम लोग कुछ न बता पाते। ओमप्रकाश, इन्दिरा हृदयेश, रमेश विकट, पंचानन राय तथा कम्पनी एक ओर प्रबन्धकों, अधिकारियों से तालमेल बढ़ाये रहते, दूसरी ओर जुझारू तेवर के लोगों का हरसम्भव शोषण करते और अपना वर्चस्व बढ़ाते जाते। एम.एल.सी. इलेक्शन में जीतने के लिए यह ग्रुप कोई भी कुकर्म न छोड़ता। मैं अपने ज़िले में फिर मन्त्री चुनी गयी और उमाशंकर टण्डन अध्यक्ष। इन दिनों शाखा स्तर पर चालीस से पचास दिनों तक की हड़ताल चली – क्वींस, हरी चन्द्र इण्टर कॉलेज, मंसादीन इण्टर कॉलेज, बख्शी का तालाब आदि। यशकरण ज्वॉइण्ट सेक्रेटरी थे, अतः जहाँ मैं न पहुँचती, वहाँ वे सँभाल लेते। उमाशंकर की सोच वही थी, जो ओमप्रकाश की, लेकिन वे दोनों ओर रहते – जहाँ पीने को मिल जाये।

पुनरीक्षित वेतनमान के फलस्वरूप नये विकल्प फ़ार्म भरवाना, सही इंक्रीमेण्ट लगवाना, हर शिक्षक को ग्रेड की समुचित जानकारी और नयी सेवा-शर्तों को (शोषण से बचने का रास्ता) समझना-समझाना बड़े कार्यभार थे। इस समय बुलबुल वीपिंग एक्ज़िमा से ग्रसित हो गयी। हम लोग इस (डी-68, निराला नगर) मकान में शिफ़्ट कर गये थे, उसकी शारीरिक और मानसिक दोनों हालत दयनीय थीं – हाथ-पैर मवाद से भर जाते, मक्खियाँ बैठतीं, खाना कौन बनाये-खिलाये, उसका स्कूल जाना बन्द हो गया। उसे पाण्डेय जी पलंग के पावों को मिट्टी के प्यालों में पानी भरकर रखते, मसहरी के अन्दर उठाकर बैठा देते, और मुझे पहुँचाने मोटर साइकिल से वे चल देते। उधर प्रदेश से ज़िले तक के आत्म-केन्द्रित स्वार्थी तत्व चाहते थे कि मैं हार जाऊँ या निष्क्रिय हो जाऊँ। इन लोगों ने ऐसी-ऐसी जगह आन्दोलन सम्बन्धी मीटिंगें रखीं, जहाँ या तो मैं न पहुँच पाऊँ या सेक्रेटरी के रूप मे कार्यकारिणी सदस्यों को खबर देने में अक्षम रहूँ। मैंने उमाशंकर को बोलते हुए सुना – "आप लोग औरतों को मन्त्री चुनते हैं। उनके वश का यह भला काम है लोगों को ख़बर ही नहीं है, लोग बैठक में आते कैसे?" मैंने उनका आश्चर्यचकित होकर भाषण सुना और

तुरन्त पाण्डेय जी ने दुर्दशाग्रस्त बुलबुल को सबके सामने बैठा दिया – इतने में ही सारे कार्यकारिणी सदस्य मीटिंग में पहुँच गये, क्योंकि टण्डन ने मीटिंग समय से पहले ही शुरू कर दी थी, और लोग बख्शी का तालाब, कुम्हारावाँ, गोसाईंगंज जैसे दूर-दराज जगह से आ रहे थे। बेशर्म उमाशंकर ने हँसते हुए कहा – "अरे! मैं तो मज़ाक़ कर रहा था। पाण्डेय जी यूनिवर्सिटी के विद्वान आदमी, भला उनकी मदद लेकर भी कमला जी बहादुर नहीं होंगी।" असल में यशकरण की सहायता से चौबीस घण्टे में दूर-दराज तक ख़बर पहुँचाने का एक जाल-सा बुना गया था। हर एरिया, हर शाखा के किसी न किसी शिक्षक का निवास लखनऊ शहर में था, अतः उनके घर का हमको पता था। जैसे गोमती पार एरिया के स्कूल के पदाधिकारी को किशोरी सिंह सूचित करेंगे। बख्शी का तालाब स्कूल को यशकरण के पड़ोस शिक्षक शुक्ला जी, मध्यक्षेत्र को ए.के. घोष, चौक एरिया को रामगोपाल आदि। पाण्डेय/यशकरण जी केवल दो-तीन लोगों को पर्चा पहुँचा देते और दूसरे दिन ख़बर सबको मिल जाती। अगले साल फिर इलेक्शन में मैं कोषाध्यक्ष चुनी गयी। प्रदेशीय कॉन्फ़रेंस जौनपुर अपना डेलीगेशन लेकर पहुँची। इसी प्रकार उतार-चढ़ाव के साथ आपातकाल में भी संघ की गतिविधियाँ चलती रहीं। इस समय पार्टी सेक्रेटरी शंकर दयाल तिवारी (अतुल के पिता) भूमिगत स्थिति में मेरे ही घर में रहते रहे। पाण्डेय जी का उनसे वरन् पार्टी से ही मतभेद शुरू हो गया था। पाण्डेय जी में व्यक्तिवाद बढ़ रहा था, लेकिन उन्हें कोई रास्ता नहीं मिल रहा था, वे यूनिवर्सिटी शिक्षकों को संगठित करने में रुचि नहीं रखते थे। लेकिन इलेक्शन के मौक़े पर या ऐसे ही किसी आयोजन-आन्दोलन के दौरान वे ऐसे-ऐसे पर्चे लिखकर बँटवा देते कि लोग हक्के-बक्के हो जाते, चिढ़ जाते या उनकी दाद देने लगते। हर विरोधी के बारे में उन्होंने कुछ न कुछ लिखा, जैसे शान्ति जी के लिए 'अपरस्टोरी वेकेण्ट फ़ॉर हायर' आदि। अज्ञात नाम से यह पर्चा बँटा, लोग जान तो गये, पर क्या कर सकते थे। बहरहाल पाण्डेय जी की मेधा और ऊर्जा का पार्टी ने सही इस्तेमाल नहीं किया।

मैंने अपनी लालबाग़ शाखा के एक-एक सदस्य को मेम्बर बनाया, जागरूक और आस्थावान भी। मेरी एक आवाज़ पर शिक्षिकाएँ हड़ताल कर देतीं, डोनेशन भी देतीं। ज़िले में कहीं जगह न मिले, तो प्रिंसिपल हाल दे देती, जहाँ मैं ज़िले के आयोजन सम्पन्न कर लेती। पाण्डेय गुट और बोरकर गुट दोनों ने हमारी शाखा में तोड़-फोड़ करने या घुसने का बहुत प्रयास किया, लेकिन मैंने भगवान बख्श, टण्डन तथा दूसरे ग्रुप वालों से कह रखा था कि तुम लोग लालबाग़ की देहरी नहीं लाँघोगे और सचमुच लोग स्टाफ़रूम की चौखट पकड़े

बाहर ही खड़े रहते। खबर मिलते ही मैं क्लास छोड़कर आती, और वहीं खड़े-खड़े सारी बातें हो जातीं। सारी शिक्षिकाएँ मुझ पर भरोसा करती थीं। लालबाग़ की मैनेजर शिक्षिकाओं को 'मिसेज़ पाण्डेय की भेड़ें' और प्राइमरी तथा होस्टल की शिक्षिकाएँ 'शिवाजी' के निकनेम से सम्बोधित करतीं।

1977 में ओमप्रकाश शर्मा, पंचानन राय आदि ने जनता सरकार के दौरान फिर ज़बरदस्त आन्दोलन की कॉल दी। अस्सी हज़ार में से तीस हज़ार ने जेलें भर दीं। शिक्षा मन्त्री को सत्ताइस सूत्री माँगपत्र पेश किया गया। जिसमें राष्ट्रीयकरण, शिक्षा समवर्ती लिस्ट में हो, सेवा-शर्तों, ट्रिपल बेनिफ़िट स्कीम, वेतनमान का पुनरीक्षण, बोर्ड अतिरिक्त भत्ता, गृहभत्ता, मेडिकल सुविधा, प्रमोशन, बीमा स्कीम कई प्रकार की छुट्टियों में सुधार, सी.टी. टीचर्स ग्रेड का ख़ात्मा, सुओ मोटो प्रमोशन, आर्ट, होम साइंस, खेल शिक्षकों को प्रवक्ता पद पर मान्यता, सेलेक्शन ग्रेड आदि-आदि को माने बिना आन्दोलन वापस नहीं होगा। मन्त्री महोदय ने राष्ट्रीयकरण और कोई एक माँग और छोड़कर शेष सभी 25 माँगें पूरी करने का आश्वासन दिया। लेकिन आन्दोलन वापस नहीं लिया गया। शिक्षकों को ज्वॉइन करने का बार-बार अल्टीमेटम दिया जाता, शिक्षक टूटने लगे, और हड़ताल को अवैध क़रार दिया गया। अदालत ने 5 जनवरी, फिर 9 जनवरी तक ज्वॉइन कर लेने की मोहलत दी, लेकिन बार-बार निराश शिक्षकों के पूछने पर भी आन्दोलन जारी रखने का न कोई कारण बताया गया, न वापस ही हुआ। उमाशंकर टण्डन जैसे लोग एक ओर स्कूल रजिस्टर में हस्ताक्षर करके ज्वॉइन किये हुए थे, दूसरी ओर हड़ताल समर्थन में भाषण करते। वे क्रिश्चियन कॉलेज में थे, जो लालबाग़ का ब्रदर इंस्टिट्यूशन है। इन दुश्चरित्र एम.एस.एस. पदाधिकारी का रूप बड़ा ही घातक तथा अविश्वनीयता पैदा करने वाला था। हमारे कॉलेज के भी कुछ लोग टूट गये। मैंने उनसे कुछ न कहा, लेकिन खुद मैं और अधिकांश शिक्षक संघ द्वारा आन्दोलन वापसी पर ही ज्वॉइन करेंगे – दृढ़निष्ठा दर्शाते हुए डटे रहे।

इस दौरान होस्टल की एक शिक्षिका (मिस शीला साइमन) को निकाल दिया गया, वह भागी-भागी मेरे पास आयी और अपनी किसी सहेली के प्रयास से सदर में उसने एक कमरा प्राप्त कर वहीं शिफ़्ट किया। मिसेज़ किशोर का गैस सिलिण्डर यह कहकर स्कूलवालों ने लौटा दिया कि अब यह शिक्षिका यहाँ काम नहीं करती। उसे किसी से स्टोव माँगकर खाना बनाना पड़ा। अन्तत: 13 जनवरी को आन्दोलन जनता को समर्पित कर दिया गया। हम लोग दौड़े-दौड़े अपने-अपने स्कूल ज्वॉइन करने गये, लेकिन एक-एक हड़ताली शिक्षक की जगह शिक्षा विभाग और प्रबन्धतन्त्र ने एक साथ मिलकर

तीन-तीन, चार-चार शिक्षक तक नियुक्त कर लिये थे। मेरे स्कूल में भी हर हड़ताली, जिसने 13 को ज्वॉइन किया, की जगह बाहरी भर्ती से भर दी गयी थी। हमारी प्रिंसिपल मिसेज़ मालवीया नयी-नयी बाहर से नियुक्त हुई थीं। उन्होंने, क्लर्कों ने, प्रबन्धक ने और शिक्षा विभाग के लोगों ने अपने-अपने उम्मीदवार घुसा दिये थे, जो नियुक्ति पत्र लिये विद्यालय परिसर और कक्षाओं में डटे हुए थे। हमारी स्थिति दयनीय थी। जिन्होंने पहले ज्वॉइन कर लिया था, वे राहत में थे और अपनी समझ को सही ठहरा रहे थे।

हम सभी प्रिंसिपल के रूम में खड़े थे और इस अनीति पर बहस कर रहे थे। इस समय एक भी शिक्षक ने मुझे ग़लत नहीं ठहराया। हम सब एक थे। इतने में प्रिंसिपल ने कहा – "अगर बाहरी शिक्षक को हटाया जाये तो उसकी तनख़्वाह कौन देगा? सभी को शिक्षा विभाग और प्रबन्धक ने नियुक्ति पत्र दिये हैं।" इतना सुनते ही विज्ञान की शिक्षिका मिस वर्मा आपे से बाहर हो गयीं। उन्होंने कहा – "धिक्कार है लालबाग़ को! इतना ग़रीब!! यह मिशनरी है। बरसों से पढ़ाने वाली अपनी शिक्षिका को बेइज़्ज़त करके सड़कछाप को बुला लिया।" फिर और भी शिक्षिकाएँ उसके साथ बोलने लगीं। वर्मा ने कहा – "लोगो, जिसके पर्स में जो हो इसके मुँह पर मारो, और जो कभी नहीं किया, आज सीखो, घूस दो और अपनी नौकरी बचाओ।" एक-दो शिक्षिकाएँ छात्र यूनियन की प्रेसिडेण्ट, सेक्रेटरी जो वहीं परिसर में बेचैन खड़ी थीं, इनमें शंकर दयाल तिवारी की लड़की अंजली ने दौड़कर सारे बच्चों को क्लास से बाहर निकाल दिया। बात की बात में बच्चों ने रुपये जमा करके ढेर लगा दिये। प्रतिभा अस्थाना बारहवीं कक्षा की अध्यक्ष ने घोषणा कर दी कि कोई भी क्लास बाहरी शिक्षक से नहीं पढ़ेगी। शिक्षिकाओं ने सारा रुपया वर्मा को थमा दिया। वर्मा ने अपने हाथ की सोने की चूड़ियाँ, किसी ने कान की बालियाँ उतार-उतारकर सब मालवीया की मेज़ पर पटक दिया। 13 की तारीख़ में ज्वॉइन करना ज़रूरी था। प्रधानाचार्या ने कहा – "प्रबन्धतन्त्र मान भी जाये तो शिक्षा विभाग?" मैंने कहा – "शिक्षा विभाग से हम बाद में निपटेंगे..." बहरहाल स्कूल बन्द होने के कुछ पहले ही हम सबको हस्ताक्षर रजिस्टर मिल गया। उन्होंने कहा कि मैनेजर से बात करेंगे। और न कोई रुपया लिया, न ही किसी का गहना। मैनेजर की अपनी पाँच-छह उम्मीदवार नहीं हटायी गयीं, उन्हें पद सृजित कर एडजस्ट कर लिया गया और पी.टी.ए. से उस महीने की तनख़्वाह दे दी गयी।

ऐसे ही अनेक शिक्षक दूसरे स्कूलों में भी भेजे गये थे, उनकी लड़ाई ज़िला और प्रदेश स्तर पर लड़ी गयी। हमारे छात्रों और शिक्षकों ने इन बाहरी

लोगों को विद्यालयों में घुसने नहीं दिया।

ओमप्रकाश वगैरह का इन्दिरा गाँधी से अपनी वापसी पर लाभ के पद एम. एल.सी. वगैरह का सौदा हो गया था, अतः फ़रवरी में जो कॉन्फ़रेंस आयोजित हुई, उसमें मुख्य प्रशंसा करते हुए सौदे का खुलासा किया गया, और शिक्षकों ने भी संघ निष्ठा को पदाधिकारियों के पत्रादेश के तहत इन्दिरा गाँधी को कांग्रेस सरकार वापसी के रूप में दर्शाया।

अब शर्माजी से जिन लोगों का मोहभंग हो चुका था, उन्होंने ठकुराई के नेतृत्व में ठकुराई गुट बना लिया। लेकिन इसको फ़ायरी स्पिरिट देने के बजाय संचालनकर्ता केवल एम.एल.सी. प्राप्ति का साधन समझ बैठे, और प्रैक्टिस में शर्मा गुट का सर्वत्र बोलबाला होता चला गया; साथ ही भ्रष्ट, स्वार्थी, संकीर्ण दृष्टिवालों की बढ़ोत्तरी होती गयी और शिक्षा का उद्देश्य व्यवसायपरकता में बदलता गया, जो आज तक है।

मेरी यूनिट भी ठकुराई गुट के समर्थन वाली बनी, लेकिन यह बात टीसती रही कि शर्मा गुट ज़्यादा शक्तिशाली है, लोगों का मददगार है। मैंने एक बार फिर उत्तराधिकारी की खोज करना शुरू किया। कभी मैं मिस अग्निहोत्री को लेकर लोगों से उसका परिचय कराती, कभी आशा मिश्रा को रिक्शे पर साथ लेकर स्कूल-स्कूल दौड़ती और कहती – "मेरे बाद ज़िले का भार आशा मिश्रा सँभालेंगी।" नवयुग की नयी यूनिट पर मुझे बड़ा भरोसा था, लेकिन पवन ने उन्हें आपस में प्रधानाचार्या और संघ के पदाधिकारी का लालच देकर फोड़ लिया। शशि चित्रा और शैलेन्द्र की लड़ाई सालों चली, संघ कमज़ोर हुआ और दोनों संकीर्ण दृष्टि बनकर अपने में सिमट गयीं।

सरस्वती विद्यालय के मैनेजर ने स्कूल भवन मालिक से मुक़दमे के दौरान काफ़ी घूस ले ली। मकान मालिक ने मुक़दमा वापस ले लिया और स्कूल का फ़र्नीचर, सर्विस बुक्स, पंखे, रजिस्टर, बर्तन सभी कुछ पुलिस की सहायता से बाहर सड़क पर फिंकवा दिया और स्कूल गेट पर ताला लगा दिया। यहाँ ग़रीब बच्चे अधिक पढ़ते थे। अतः सुबह जब शिक्षिकाएँ आयीं तो सारे बच्चे और शिक्षिकाएँ फुटपाथ पर नाली के किनारे खड़े परेशान थे। उन दिनों मिस जोशी ने घबराकर मुझे सारा क़िस्सा बताया और फ़ोन से ही मैंने उन्हें तुरन्त पहुँचने का आश्वासन दिया। मैं पाँच मिनट के अन्दर सुरेश को सूचित कर, तैयार होकर मोटर साइकिल से सरस्वती विद्यालय पहुँच गयी, सुरेश ने तुरन्त दौड़-दौड़ कर किशोरी सिंह, यशकरण, जनार्दन पन्त तथा अपने ग्रुप के लोगों को सरस्वती पहुँचने के लिए कहा और स्वयं घर जाकर एक ड्राफ़्ट तैयार किया, ए.के. घोष को साथ लेकर साइक्लो कराया, बैनर निकालकर दिया और

सबको सूचित करवाया कि (उन दिनों विधानसभा सत्र चल रहा था) सारे लोग विधानसभा गेटों पर पर्चे लेकर खड़े हो जायें और हर विधायक को इस अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ाई का समर्थन करने को कहें। इस प्रकार एक ओर सारे विधायक उस पर्चे को लिये हुए विधानसभा के अन्दर पहुँचे, वहीं मैंने दरी बिछाकर सबसे नारा लगवाया, 'सरस्वती विद्यालय यहीं लगेगा, यहीं लगेगा', 'शिक्षक एकता ज़िन्दाबाद', 'भ्रष्ट प्रबन्धक गिरफ़्तार हो' – ये नारे ब्लैकबोर्ड पर भी लिख दिये, जिससे हर राहगीर पढ़ने के लिए खड़ा हो जाता। सरस्वती आन्दोलन शुरू करवाकर और शिक्षिकाओं से डटे रहने की हिदायत देकर मैं अपने स्कूल पहुँची। प्रिंसिपल और शिक्षिकाओं को बताया, तो प्रिंसिपल समझी यह कोई जनसंघी स्कूल है जिसका मैं समर्थन कर रही हूँ। उन्होंने मुझे छुट्टी नहीं दी। लेकिन मैंने एक-दो क्लास लेने और रजिस्टर में अगले दिन का भी हस्ताक्षर कर मिस घोष को साथ लेकर सरस्वती पहुँच गयी। आन्दोलन की ख़बर एक-दूसरे से होते हुए ज़िलेभर में फैल गयी। यों ज़िले में हमारा ग्रुप दूसरा था, लेकिन मैंने शिक्षक विधायक ओमप्रकाश को आन्दोलन में बुलाया, ताकि बल मिले, शिक्षकों की भीड़ जमा होने लगी। लोगों ने वहाँ मंच बना डाला और प्रबन्धक व शिक्षा विभाग को भला-बुरा कहने वाले भाषण होने लगे, लेकिन हमारे पदाधिकारी पीताम्बर भट्ट और शान्ति बोरकर तथा चन्द्रकान्ता सक्सेना थीं, जिन्हें आन्दोलन अपने हाथ में लेकर आगे क़ानूनसम्मत रूप देकर बढ़ाना चाहिए था, अन्यथा सब कुछ अराजकता फैलाने वाली और गिरफ़्तारी तक पहुँचाने वाली बात उलटी हो जाती। लेकिन उनके ग्रुप ने आन्दोलन को ग़लत बताया, क्योंकि ओमप्रकाश वहाँ पहुँचे थे, और मैंने ज़िला को बाईपास करके प्रान्त से बात की थी, ओमप्रकाश ने इसको गति दी, लोगों में जोश भरा और विधानसभा में भी इसकी और लोगों के साथ चर्चा की, लेकिन जब उन्हें पता चला कि आन्दोलन की सूत्रधार कमला पाण्डेय हैं, तो उन्होंने इसको व्यक्तिगत हित में जोड़ने की कोशिश की। किशोरी सिंह ने (ब्रांच सेक्रेटरी) पार्टी मीटिंग बुलायी। जनार्दन दीक्षित शान्ति जी के चतुर जी-हुज़ूर थे, उन्हें भी पार्टी सदस्यता दे दी गयी है, यह बात उसी दिन मालूम हुई। मीटिंग में शंकरदयाल तिवारी ने कहा – "एक आन्दोलन कमला जी करें, एक शान्ति बोरकर करें, पार्टी से क्यों नहीं पूछा!" मैंने लाख समझाने की कोशिश की कि जिस समय बच्चे और शिक्षक एक धक्के में सड़क पर फेंक दिये गये, बीसियों की नौकरियाँ ख़त्म कर दी गयीं, सामान तोड़-फोड़ दिया गया और प्रबन्धक ने मकान मालिक से मिलकर ताला-बन्दी कर दी, तो उस सूचना पर मैंने त्वरित बुद्धि का प्रयोग किया, सारे ज़िले को एकताबद्ध कर

दिया, और रोती शिक्षिकाओं को सान्त्वना दीं। इसमें शान्ति जी तथा ज़िले के लोगों को ज़िम्मेदारी लेनी चाहिए थी, कमला से निजी शत्रुता के क्या माने? लेकिन जनार्दन दीक्षित और शान्ति बोरकर ने मेरे ख़िलाफ़ 'निन्दा का प्रस्ताव' रखा, जिसे वेदकुमार शास्त्री, सर्वदमन सिंह ने पास कर लिया और सेक्रेटरी ने अपनी मुहर लगा दी। किशोरी सिंह तथा यशकरण को पार्टी के इस विचित्र, शिथिल रुख़ से बड़ा धक्का पहुँचा। आन्दोलन को मान्यता देने के लिए ज़िला मन्त्री चन्द्रकान्ता ने पहल की। पीताम्बर भी आये, लेकिन दो दिन बाद। ओमप्रकाश ने गृहमन्त्री रूपकुमारी बख्शी (कांग्रेस) से बात की तो उन्होंने दबाव की नीति बनाने का सुझाव दिया, फलत: यह बात तो गुपचुप थी, लेकिन आन्दोलन बढ़ गया जुलूस, प्रदर्शन, नारेबाज़ी की राह पर। मैं दौड़कर स्कूल जाती, फिर सरस्वती आ जाती। अब भूख हड़ताल शुरू हो गयी। मैं सरस्वती के दरवाज़े पर कनात लगाकर रात-रातभर वहीं रही। तीसरे दिन उग्र नारों के दौरान पुलिस ने लाठीचार्ज कर दिया। किशोरी सिंह ज़ख़्मी हो गये, विद्यान्त कॉलेज के जनार्दन पन्त के कन्धे पर चोट लगी, मेरे सिर पर थोड़ी-सी। सभी लोग गिरफ़्तार कर लिये गये, पहले सिविल अस्पताल में चोटों की प्राथमिक चिकित्सा हुई, फिर जेल भेजे गये। मैंने रजिस्टर में हस्ताक्षर कर रखे थे, प्रिंसिपल ने भी शायद नज़रअन्दाज़ कर दिया होगा। विधानसभा और विधान परिषद से लेकर शिक्षा विभाग तक पदाधिकारीगण जुटे। समझौता हुआ, विद्यालय का ताला खुला, सबकी नौकरियाँ बहाल हुईं, गिरफ़्तार छोड़े गये और तीन दिनों तक जेल में रहने का भी वेतन बहाल हुआ। लेकिन मेरी स्थिति दारुण हो गयी। विद्यालय में पैनेल निरीक्षण हो रहा था, और सरस्वती में आन्दोलन, मैं मंच पर थी, 'आर.आई.जी.एस. इतनी लापरवाह है कि शिक्षक की सुरक्षा करने में पूरी तरह अक्षम' आदि कह रही थी कि आर.आई.जी.एस. आयीं और निरीक्षण के लिए लालबाग़ पहुँच गयीं। मैं सरस्वती के मंच से उतरकर और अपने साथियों को बताकर हाँफते-हाँफते अपने विद्यालय पहुँची। निरीक्षण चल रहा था, मैं छिपते-छिपते अपनी क्लास में पहुँचकर पढ़ाने लगी। इतने में आर.आई.जी.एस. प्रिंसिपल को साथ लिये मेरी क्लास के पास पहुँची, तो मैंने हँसकर नमस्ते की। आर.आई.जी.एस. ने प्रिंसिपल की ओर देखते हुए कहा कि "अभी तो ये सरस्वती में थीं, मंच पर से मुझे गालियाँ दे रही थीं, और अब यहाँ हैं।" मेरी क्लास में नहीं आयीं और निरीक्षण ख़त्म हो गया। मेरी तीन दिन की तनख़्वाह काट ली गयी थी, यह पराजय थी – मिस मालविया प्रिंसिपल ने मेरे तीन दिनों के हस्ताक्षर काट दिये थे। मैंने इस अन्याय के लिए फिर मोर्चा खोला, लेकिन अपनी लड़ाई मैं क्यों लड़ूँ? ज़िला और शाखा के

लोग लड़ें – इस बार ज़िला पदाधिकारी चन्द्रकान्ता और पीताम्बर भट्ट ने कड़ाई से समझौते का पालन न करवा पाने के लिए आर.आई.जी.एस. की नाक में दम कर दिया, उन्होंने कहा – "कॉलेजवालों ने जैसा बिल बनाकर भेजा, पास करके भेज दिया गया।" अब लिखा-पढ़ी शुरू हुई, मेरे हस्ताक्षर काटकर 'ए' यानी अनुपस्थित दिखाना जुर्म है। कोई भी अधिकारी अपने मातहत के हस्ताक्षर काटकर मनमाना आलेखन कर ले, यह शोषण है, क़ानून के विरुद्ध है। कई और भी ज़िले के साथी प्रिंसिपल की मेज़ पर मुक्के मार-मारकर उन्हें ही आरोपी बताने लगे। ऑफ़िस से वे लोग क्या निकलवाये जाते, प्राचार्या खुद ऑफ़िस छोड़कर अपने कमरे में जा छिपीं। इन लोगों ने निष्क्रिय शाखाधिकारियों को समझाया, सदस्यों की मीटिंग की, कहा – "जो सूत्रधार थीं, हम सबकी लीडर, हमको-तुमको रास्ता दिखाया; स्कूल और शिक्षा विभाग समझौते के विरुद्ध काम करे, उन्हें प्रताड़ित करे और आप लोग देखा करें, कल जब आप पर आयेगी, तो कौन साथ देगा?" शिक्षक साथियों के कहने पर शाखा ने प्रस्ताव पास किया कि मिसेज़ पाण्डेय का तीन दिन का सप्लीमेण्टरी पे-बिल जब तक नहीं बनाकर भेजा जाता, लालबाग़ में पढ़ाई नहीं होगी, इसका असर हुआ। उसी दिन बिल बनवाकर शिक्षा सदन में पहुँचाया और वहाँ से वेतन आ गया। हस्ताक्षर के बारे में आर.आई.जी.एस. ने कहा – "टीचर और प्रिंसिपल की मिलीभगत थी।" एक बार फिर 'ए' कटा और मेरे हस्ताक्षर हुए। इस स्थिति पर आमराय यह कहकर व्यक्त हुई – "पहले प्रिंसिपल और आर.आई.जी.एस. ने थूका, फिर चाटा।"

1980-81 में एक बार फिर मैं ज़िले की महामन्त्री और एम.पी. दुबे अध्यक्ष बने। महिला शाखाएँ अपना सदस्यता शुल्क मुझे या शान्ति बोरकर को ही देती थीं। बाक़ी लोग बीस चक्कर लगायें, तो भी शुल्क नहीं वसूल पाते थे। शान्ति बोरकर उमाशंकर टण्डन, रामगोपाल, हरीश पन्त, देवेन्द्र मिश्र आदि को सरेआम सड़क पर चिल्ला-चिल्लाकर 'पियक्कड़, पियक्कड़, पियक्कड़ पार्टी' कहकर और भगवान बख्श तथा उनके साथियों को 'कांग्रेसी कैरेक्टर-कांग्रेसी कैरेक्टर' कहकर उनकी छवि ख़राब करती रहती थीं। लोग उनसे बात करने में घबराते और बचते थे। मैं इस प्रकार के तत्वों की सरेआम बेइज़्ज़ती तो न करती, लेकिन इनकी रीति-नीति का नैतिक और तार्किक विरोध करके मनमानी को आगे बढ़ा पाने में रोड़ा बन जाती थी, ऐसे ही क्षुब्ध उमाशंकर ने एक दिन फ़ोन पर मुझसे आई.टी. चौराहे के रेस्टोरेण्ट में मिलने का तय किया। मुझे ताज्जुब हुआ, जो व्यक्ति हर समय घर आया करता हो, मुझसे, पाण्डेय जी और बच्चों से बतियाता रहता हो, घर के बग़ल में ही रेस्टोरेण्ट में क्यों मिले?

मुझे कोई चिन्ता या डर तो था नहीं, निर्धारित समय में पहुँची, टण्डन ने चाय का ऑर्डर दिया और बड़ी संजीदगी से बोले – "कमला जी, यह बताइये, आप लोग कब मरेंगी?" मैंने पूछा – "क्यों?" टण्डन बोले – "मुश्किल यह है कि आप दोनों महिलाओं ने पूरे ज़िले को क़ब्ज़िया रखा है। कहने को अलग-अलग कमला पाण्डेय ग्रुप, शान्ति बोरकर ग्रुप हैं, लेकिन असल में यह ग्रुप जीते तो सी.पी.एम., वह ग्रुप जीते तो सी.पी.एम., दोनों हाथ लड्डू। हम साले काम कर-करके, दौड़-दौड़कर मरे जा रहे हैं लेकिन न कोई पैसा देता है, न हमारा विश्वास – आप लोग मरें तो रास्ता साफ़ हो, आप लोग पदाधिकारी न रहें, तो भी आपकी बात लोग सुनते हैं।" मैंने कहा – "शान्ति जी से नहीं पूछा?" उन्होंने कहा – "उस झक्की बुढ़िया से कौन बोले, वैसे ही फटकारती रहती है।" मैंने पूछा – "तो मैं क्या करूँ? मुझे क्या मालूम कब मरूँगी।" टण्डन ने हाथ जोड़कर कहा – "मेहरबानी से आप सिर्फ़ अपनी शाखा तक सीमित रहिये, बाक़ी जगह हम लोगों के लिए छोड़ दीजिये।" मैंने उसकी एक भी बात गम्भीरता से नहीं ली, बचकानी हरक़त मान ली, फिर वह मेरे साथ ही घर आ गया। रास्ते में मैंने पूछा – "ये सब बातें घर पर भी तो कर सकते थे।" जीभ काटकर बोला – "अरे नहीं, वहाँ पाण्डेय जी डाँट न देते!" बच्चों ने कहा – "टण्डन चाचा, आप हार गये, जीतते तो मिठाई खिलाते?" टण्डन ने कहा – "टण्डन चाचा जीतें या हारें, बच्चों को इससे क्या? बच्चे तो मिठाई खायेंगे। हार की मिठाई खाओ।" और दौड़कर एक किलो मिठाई लाकर सबको बाँटी। मेरी घरेलू जद्दोजहद यों भी बढ़ती जा रही थी, सो प्रैक्टिस में मैं सीमित ही होती गयी।

एक दिन दिसम्बर के महीने में ठकुराई तड़के पाँच बजे हमारे घर आये। हम सब सो रहे थे। मैं उठी, चाय बनाने लगी। ठकुराई पाण्डेय जी की रजाई में दुबक गये, फिर चाय पीते हुए हम लोगों से बोले – "इस बार एम.एल.सी. के इलेक्शन में कमला जी को खड़ा होना है, पाण्डेय ग्रुप के अलावा, हरी कृष्णा अवस्थी, प्रभावशाली निर्दलीय, डिग्री शिक्षक संघ वग़ैरह को अगर कोई हरा सकता है तो कमला जी। हम लोगों को यह सीट निकालनी ही होगी।" पाण्डेय जी ने उनकी बात को गम्भीरता से लिया, अपना प्रयत्न शुरू कर दिया। पार्टी से हामी भरवा ली और मण्डल के कई ज़िलों के पदाधिकारियों का आकलन करने लगे – लेकिन मुझे संसदीय क्रियाकलापों से समाज और देश का शोषण ख़त्म होगा, इस पर कभी भरोसा नहीं हुआ, बल्कि मेरी सोच एम.एल.सी. विरोधी थी। एक अकेली विधान परिषद में पहुँचकर भी क्या कर लूँगी। हाँ मेरे कन्धे पर बन्दूक़ रखकर दूसरे अपना संकुचित मतलब सिद्ध कर लेंगे। मेरा मन

एम.एल.सी.-शिप को व्यवसाय मानने यानी पैसा कमाने का ज़रिया मानने को तैयार न था। पार्टी निर्णय के बावजूद किशोरी सिंह वग़ैरह किसी ने मेरे लिए वोट जुटाने में रुचि नहीं ली, वरन् मेरे विरुद्ध इस सीट के लिए ऐसे-ऐसे लोग उम्मीदवार बन गये, जिनके बारे में सोचा भी नहीं जा सकता था। जैसे उमाशंकर टण्डन, के.के. द्विवेदी, सत्येश सिंह, रायबरेली (सी.पी.आई.) ज़िले के और कई लोग, अलग-अलग ज़िलों में इस सीट के लिए कई-कई लोग। आश्चर्य की बात यह थी कि सत्येश सिंह मेरे ही घर में उन दिनों रह रहे थे। हमारे किचन में खा-पी रहे थे, पाण्डेय जी से स्पीच के टिप्स लेते थे। सत्येश चाचा बच्चों को पढ़ाते थे, उनसे घुले-मिले थे, उन्होंने चुपचाप अपनी उम्मीदवारी का फ़ार्म भरा और मुझे हवा तक न लगने दी। अब दबाव इस बात का पड़ने लगा कि मैं अपना नाम वापस ले लूँ, पाण्डेय जी ने भी कई बार दबी जुबान से नाम वापसी की बात की, ठकुराई मूक दर्शक बन गये। वे संघ के अध्यक्ष थे। पर मैं अड़ गयी, एक बार फ़ार्म भर देने के बाद नाम वापसी किसलिए? दूसरे लोग नाम वापस लें। मैं ज़िला मन्त्री थी, कम से कम एक वोट तो मेरे पास था ही। पहले भी मेरे वोट के कारण महेश्वर पाण्डेय को पाण्डेय जी ने जितवा दिया था। वोटिंग हुई। छह ज़िलों के अध्यक्ष मन्त्रियों के वोट का बहुमत प्राप्त व्यक्ति सीट का उम्मीदवार बनता। मैंने अपने वोट पर लिखा – माध्यमिक शिक्षक संगठन। अपने को वोट नहीं दिया। इस प्रकार प्रोडक्शन वर्क करने वाले बाराबंकी के सुरेश सक्सेना को टिकट मिल गया। बाक़ी सब धरे रह गये। मुझे एम.एल.सी. के दलदल से मुक्ति मिली। सुरेश सक्सेना को इलेक्शन में जिताने के लिए मैंने स्कूल से अवैतनिक छुट्टी लेकर प्रचार-कार्य शुरू किया, लेकिन चारों ओर स्तब्धकारी गोपनीयता बरती गयी। मुझे और एम.पी. दूबे अध्यक्ष को न कोई पर्चा-पोस्टर मिले, न सुरेश सक्सेना के लोग फटकने देते। पता यह चला कि मैं सुरेश सक्सेना को हराने के लिए गुप्त प्रचार कर रही हूँ, अतः चन्द्रकान्ता सक्सेना, सुरेश सक्सेना, सत्येश, टण्डन और दूसरे ज़िलों के बहकाये गये लोग भी मुझे शक की नज़रों से देखते, जबकि हरी कृष्णा अवस्थी (आगे चलकर वाइस चांसलर लखनऊ विश्वविद्यालय) और दूसरे संगठन के लोग जानते थे कि मैं संघ की निष्ठावान कार्यकर्ता हूँ।

इधर पाण्डेय जी के सबसे छोटे भाई हरी एयरफ़ोर्स में थे, जो बार-बार बीमार हो जाते, पीते अधिक थे, उसका असर लिवर पर पड़ता, इनके दो लड़के पहले से हमारे साथ रहते और पढ़ते थे, अब वे बाक़ी दो बच्चों को भी ले आये जबकि सैनिकों को सारी सुविधाएँ, दवा-इलाज सैनिक अस्पताल से

मिलता था। श्यामा-छोटे की लड़की पम्मी भी यहीं रहकर एम.ए. करने आयी, मुन्नी जिज्जी का परिवार, जीजा जी, वीणा आदि सब यहीं रहने लगे। वीणा लॉ कर रही थी, एक और मौसी के लड़के सत्येन्द्र अवस्थी भी लॉ कर रहे थे। शिक्षक संघ के लोग, पार्टी के लोग तथा अन्य दूरदराज के नातेदार भी यहीं आकर ठहरते। घर क्या एकदम सराय – मैना, बुलबुल, अन्नू और एक देवर (बच्चा) की परित्यक्ता लड़की बिन्नी काम के बोझ तले दबे रहते। आर्थिक तंगी से मैं पिसती और खीझती रहती, पाण्डेय जी सुबह से शाम तक ट्यूशन पढ़ाते, कुछ पैसे देते, कुछ फ़्री पढ़ते, जो कुछ रुपया मिलता उसे मनमाने ढंग से ख़र्च करते, घर ख़र्च के लिए मुझे देने के बजाय मेरी तनख़्वाह ख़ुद प्राप्त करने के लिए मुझ पर दबाव डालते रहते। अब वे रोज़ ही पीने लगे। कभी कानपुर से बच्चा के आने पर उसके साथ, कभी पियक्कड़ ग्रुप के साथ घर पर, तो कभी उनके घरों पर। उन्होंने धीरे-धीरे घर और बाहर दोनों जगह गुटबन्दी शुरू कर दी। ज़िले के लोगों के काम मैं सच्चाई और ईमानदारी से करती, उन्हें समझाती, पैसे-पैसे के हिसाब की रिपोर्ट प्रकाशित करके बाँटती रहती, जबकि अन्य लोग पैसा खा जाते या धोखा देते, समय पर न पहुँचते, मैनेजर प्रिंसिपल से मिल जाते। शिक्षक से वाहन-व्यय के नाम पर घूस ले लेते और उसके जायज़ भुगतान और उत्पीड़न के खिलाफ़ पैरवी न करते, अत: पाण्डेय जी को मेरे बराबर सही व्यक्ति न मिलता और काम के नाम पर ज़िले की तमाम ज़िम्मेदारियाँ कार्यकारिणी मीटिंग में खुद या दूसरों के द्वारा मेरे सिर पर थुपवा देते और मैं चकरघिन्नी की तरह सुबह से शाम तक अपने स्कूल की ड्यूटी के अलावा इधर-उधर संगठन के काम करती घूमती रहती। एक बार शिक्षक संघ के बैनर तले मैंने अवकाश प्राप्त शिक्षकों को शिक्षक दिवस पर आमन्त्रित किया। कार्यक्रम के लिए किसी ने सहयोग नहीं दिया। ख़ुद पाण्डेय जी ने गुपचुप प्रचार कर दिया कि सहयोग मत करो। मैं ज़िला मन्त्री थी, शिक्षा निदेशक मुख्य अतिथि के रूप में शिक्षकों को सम्मानित करते, उन्हें आने के लिए सूचित किया जा चुका था। असहयोग के कारण मेरे हाथ-पैर फूल गये, पर मैंने हिम्मत नहीं हारी। और आयोजन की सफलता के लिए अपने साथियों को लेकर यूनिट-यूनिट दौड़ गयी, लेकिन किशोरी सिंह को भी सुरेश, रामगोपाल वग़ैरह ने फोड़ लिया। उन्हें पिलाने का लालच दिया। किशोरी सिंह पार्टी ब्रांच के सेक्रेटरी थे, ग्रुप में हमारे आदमी कहे जाते थे। मुझसे वे डरते भी थे और अपनी सुरक्षा भी समझते थे। रामगोपाल के घर मीटिंग थी, जब मीटिंग ख़त्म हुई, तो सबने रुपये जमा करना शुरू किया, किशोरी सिंह के पास संगठन के बहुत से रुपये थे, मैं उनके साथ घर आ सकती थी, वे महानगर में रहते थे,

लेकिन पाण्डेय जी वग़ैरह ने रोक लिया। मैं जैसे ही बाहर निकली, उन्होंने सारे रुपये दौड़कर मुझे सौंप दिये और अन्दर चले गये। वाई.के. लाल बैठे रहते, पीने-पिलाने में उनकी ख़ास रुचि नहीं थी। अत: मैं अकेली ही रात दस बजे घर आयी।

शिक्षक दिवस के आयोजन हेतु मैंने स्वयं स्वागत भाषण, अभिनन्दन पत्र आदि विद्यान्त के प्रिंसिपल बन गये पुराने साथी ए.के. घोष के घर पर बैठकर लिखे और घोष ने अपने स्कूल के लोगों को भेजकर उन्हें छपवाने की ज़िम्मेदारी ले ली। लालबाग़ की शाखा में मैंने तय करवाया कि शाखा सबके जलपान का ज़िम्मा ले, प्रिंसिपल से (उस समय कार्यवाहक प्रधानाचार्या हमारी पुरानी साथी मिसेज़ ब्लेस्ट थीं) स्कूल के हॉल को सजवाने का अनुरोध किया। कुछ महिला शाखाओं ने कार्यक्रम के लिए आर्थिक सहयोग दिया। नवयुग की शिक्षिकाओं ने ज़िलेभर में आयोजन में शामिल होने के लिए पर्चे बाँटे। मैं सब कुछ निपटाकर रात 11 बजे पर्चे और रुपये लिये किशोरी सिंह के घर पहुँची, करामत स्कूल के पुल पर विकट सन्नाटा, मेरे पीछे कुत्ते भी लगे हुए थे, मैं डोलची पकड़े एकदम अकेली सहयोग की आशा से गयी थी, लेकिन देखा कि कामरेड किशोरी सिंह रजाई ओढ़े खर्राटे ले रहे हैं। कुछ गुस्सा, कुछ घबराहट! मैंने ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाया और पूछा – "यह क्या हालत है, यही सहयोग है?" किशोरी सिंह हाथ जोड़कर खड़े हो गये और बोले – "भाई कमला जी! हम इतना काम ना कै पाउब।" मैं चुपचाप घर चली आयी। रुपये अपने तकिये के नीचे रखे और सो गयी। सुबह रुपयों की बहुत तलाश की लेकिन नहीं मिले। उसी दिन आयोजन था, शिक्षिकाओं ने आयोजन की सफलता के लिए भरसक सहयोग किया। जब इन्होंने देखा कि बिना इन लोगों की मदद के भी सब कुछ बहुत ही प्रभावी है, तो श्रेय लेने के लिए आगे-आगे बढ़कर सहयोग का दिखावा करने लगे। कुछ लोग दौड़कर मेरे साथ मंच पर बैठ गये। जनार्दन दीक्षित दरवाज़े से आने-जाने वालों को गाइड करने लगे। पाण्डेय जी डाइरेक्टर के पास आकर खड़े हो गये, जो अभी आये ही थे, और बोलने जा रहे थे – उनके कान में फुसफुसाकर बोले – "आप इस गेट से जाइयेगा।" श्याम नारायण मेहरोत्रा, निदेशक शिक्षा, अचकचाये – "यह क्या? अभी तो कार्यक्रम शुरू भी नहीं हुआ है। जाने की बात क्यों?" मुझे जब मालूम हुआ, तो इस अभद्रता पर बहुत अफ़सोस हुआ। वे थोड़ी ही देर बाद बोलकर (सेवानिवृत्त शिक्षकों को अभिनन्दन और कृतज्ञताज्ञापन कर) बिना किसी से कुछ बोले अकेले ही गेट से निकलकर चले गये। मैं पीछे से उतरकर घूमकर जब तक उनसे मिलती, निदेशक महोदय जा चुके थे, उनसे धन्यवाद

का एक शब्द भी न कह सकी। निदेशक ईमानदार, शिक्षक-हितैषी और अन्याय विरोधी के रूप में जाने जाते थे। इस प्रकार पैसा चोरी कार्यक्रम भी असफल हुआ।

देवेन्द्र मिश्र के घर मीटिंग रखी गयी कि इस बार पैनेल में लोगों के नामों को वहीं तय किया जायेगा – मैं मन्त्री थी, मुझे अपने ग्रुप को संगठित रखना और जिताना था, पाण्डेय जी के साथ मैं मोटर साइकिल पर आयी। कुछ लोग, स्कूटर या अन्य वाहनों से। देवेन्द्र मिश्र और पाण्डेय जी ने मुझे मिश्र जी की पत्नी के पास मिलने अन्दर भेज दिया। खुद और मिश्र किसी दूसरे कमरे में बैठकर पीने लगे। मैं बाहर आयी तो पैनेल के नामों की लिस्ट मिश्र जी से माँगी (देवेन्द्र मिश्र तथा उनकी पत्नी ने 1968 के 'जेल भरो आन्दोलन' के दौरान अन्नू को अपने घर दो महीने रखा और अपने बेटे शिशू के साथ ही अन्नू की भी देख-रेख की थी) तो बोले – "अरे भौजाई! चुप बैठो, मिल जायेगी।" बाहर लोग शोर मचा रहे थे कि कम से कम यह तो बता दो कि पैनल में हमारा नाम रखा गया है या नहीं – हमें किस पोस्ट पर और लड़ना है या नहीं। कुछ ने कहा – "मन्त्री तो आप हैं, आपको सब कुछ तय करना है, आप बताना क्यों नहीं चाहती?" और सचमुच उस दिन मुझे बहुत दुख हुआ। महसूस हुआ कि मैं जनता की चुनी हुई विश्वसनीय मन्त्री – लेकिन कुछ भी नहीं कर पा रही हूँ, मैं क्या घरेलू औरत हूँ कि विजया के पास बैठकर साड़ी और अचार की बात करूँ, घर के कोने में छिप जाऊँ, और ये लोग मुझे अकेला बाहर बैठने पर मज़बूर करें और खुद शराब पीते रहें? रात का समय कहाँ पान दरीबा और कहाँ निराला नगर, कोसों दूर – मैं छटपटाती हुई-सी चुपचाप बाहर बैठी रही और ये लोग अन्दर मौज करते रहे। धीरे-धीरे लोग अपने-अपने घर चले गये। बाद में मैं भी इनके साथ घर पहुँची।

मंसादीन के रामगोपाल और गिरधरा सिंह के पवन कुमार (जिन्होंने मेरी नयी बनायी हुई नवयुग की यूनिट को गृह-कलह की आग में झोंककर नष्ट कर डाला) प्रायः पाण्डेय जी के साथ न जाने किस ग़मग़लती की बैठक करते रहते, इन सब हरकतों का असर बच्चों को ख़ासकर अन्नू को विनाश की ओर ले जाने लगा। पवन ने एक दिन मुझे दस बजे रात में पापड़ भूनकर दे जाने के लिए कहा – पहले तो मैंने अनसुना कर दिया, फिर दोबारा ज़ोर से आदेशात्मक स्वर में कहा – "पाण्डेय जी की इतनी-सी सेवा नहीं कर सकतीं, इतना घमण्ड किस काम का, आप जो कुछ हैं पाण्डेय जी की वजह से"... और भी इसी प्रकार... रामगोपाल और पाण्डेय जी कहा-सुनी से मानो खुश हो रहे थे – मौन रहे। इसी तरह पाण्डेय जी ने लगभग बारह बजे रात को मुझे सोते से

जगाया और कहा, "थोड़ी-सी पकौड़ी तलकर दे जाओ।" मैं कच्ची नींद में थी ही, बिगड़ गयी – "मैं रखैल हूँ, साकी हूँ या ज़रख़रीद ग़ुलाम... व्यवहार तो देखो!" उन्होंने कहा – "व्यवहार तो अभी देखा नहीं है..." अस्फुट स्वरों के बाद जो मैं सुन पायी... "कुल बोरनी, कटुभाषिणी... ऐसी पत्नी मिल गयी, देखो मेरे भाग।" वे सब लोग चुपचाप चले गये। कुछ दिन हम लोगों में बातचीत बन्द रही।

अब एक नयी पैंतरेबाज़ी का सामना था, हमारे घर में आने-जाने-रहने वाले, नाते-रिश्तेदारों के जमघट के दो ग्रुप होते गये... जीजा जी का परिवार (वीणा, जिज्जी जी, सत्येन्द्र) और यशकरण प्रायः मेरे ही पास आकर बैठते। हरी के बच्चे, बुलबुल, अन्नू, बीनी, पम्मी, बल्ले आदि-आदि पाण्डेय जी के कमरे में जमा रहते। मैना मेरे साथ ही सोती थी, वह शाम को जो कुछ रखा हुआ मिल जाता चाय के साथ खाने के बाद रात को कुछ न खाती, सिर्फ़ पढ़ती रहती और सो जाती। उसकी दोस्तें कॉमन थीं, जो चाय की केतली भरकर मेज़ पर रख लेतीं और डाइनिंग टेबुल पर मैना के साथ चिपकी रहतीं। कभी-कभी हम दोनों के कमरों में झाँक लेतीं और थोड़ी-बहुत बातें करके चली जातीं। अन्नू के दोस्त सर के अलावा सर के ग्रुप से अधिक हिले-मिले रहते। बुलबुल का सभी पर प्रभाव था, लेकिन पापा की वह इतनी दुलारी थी कि पापा समेत सब उसकी सेवा और खुशामद करते रहते। रात को पाण्डेय जी के साथ ही सारे लोग (मुझको और मैना को छोड़कर) खाना खाते, फिर खूब बड़े भगौने में दूध-रोटी मीसी जाती और उसी में हर बच्चा दो-चार चम्मच खाता। बुलबुल, बीनी, विक्की, विकास, अन्नू, पाण्डेय जी प्रायः एक ही कमरे में सोते। बुलबुल पापा की हर ग़लत-सही बात को डिफ़ेण्ड करती, और कुछ ऐसा वातावरण बनता जा रहा था कि अकेले में पाण्डेय जी से एक सेकेण्ड के लिए भी परामर्श कर पाना असम्भव था। कौन क्या कर रहा है, कहाँ जा रहा है, आगे क्या किया जायेगा – मुझे कोई जानकारी न हो पाती। असम्पृक्त उपेक्षापूर्ण वातावरण। ट्यूशन पढ़ने वाले लड़के सारे घर में घूमते, बुलबुल को घेरे रहते, पाण्डेय जी से पूरी छूट, अगर मैं कभी टोकती या कुछ पूछना चाहती तो कहती – "आपको कहीं जाना नहीं है, जाइये, लोग आपका वेट कर रहे होंगे।" कभी-कभी मुझे लगता कि चरित्रहनन-सम्बन्धी दुष्प्रचार के शिकार तो बच्चे नहीं बनाये जा रहे हैं। अन्नू के विचार पापा से टकरा जाते – उसकी बुलबुल से भी लड़ाई होती रहती।

पाण्डेय जी से वह बात करना चाहता, लेकिन वे उसे ज़रा भी टाइम न देते। अपने सारे काम विकास से करवाते रहते, विक्की अन्नू की शिकायतें इस

ढंग से करता कि पाण्डेय जी की नज़रों से वह गिरता ही चला जाये, जो कुछ वह नहीं करता, उसका आरोप भी उसी पर थोप दिया जाता – जिज्जी समय-समय पर अन्नू का पक्ष लेकर 'लाल' पाण्डेय जी को डाँटती और समझाती, लेकिन सुरेश इतना आत्म-केन्द्रित होते जा रहे थे कि अपनी ट्यूशनें, ख़ासकर छात्रा-ट्यूशनों में डूबे रहते, और जो कुछ पाते हरी के लड़कों और ट्यूशन की लड़कियों पर ख़र्च कर डालते। जानकी, शाकम और सविया के प्रति पक्षपातपूर्ण रुचि के कारण बुलबुल में कभी-कभी प्रतिद्वन्द्वी ईर्ष्या जाग उठती और उसका विक्की, विकास तथा पापा से भी झगड़ा होता रहता। अन्नू पापा को शोषक और बुर्जुआ कहता, उसने पत्र लिखकर उनसे कहा कि "आप अपनी बुजुर्गियत की आड़ में चाहे जो करें और जो कुछ भी थोपे : उसका मानना क्यों ज़रूरी है?" – सुरेश ने उससे भी किनारा कर लिया, और अन्नू भी पहले सुरेश की बोतलों से, सिगरेट के डिब्बे से, फिर स्वतन्त्र रूप से दारू और सिगरेट का लती बनता चला गया। कभी-कभी उसने पैसे भी चुराये, लेकिन बाद में वह कम्प्यूटर की एजेंसी से और लखनऊ यूनिवर्सिटी में 1600 रुपये का पार्टटाइम जॉब करके ख़र्च करने लगा। सुरेश ने उससे यह नहीं कहा कि पीना छोड़ दो वरन् यह कहकर ताने देते कि अपनी कमाई के पैसे से पियो तो जानें... अन्नू के लिए यह भी एक दुखदायी पहलू बना कि जो कुछ वह न करता उसके लिए भी आरोपित किया जाता। शकुन (हरी की पत्नी) को पाण्डेय जी सारे रुपये और घर चलाने का अधिकार सौंपे हुए थे – चचेरे छोटे भाई उसका अपमान करते और जब वह पीकर आता, तो सब मिलकर उसे तरह-तरह की मानसिक और शारीरिक यन्त्रणाएँ देते। हमारी पाण्डेय जी से लड़ाई हो जाती तो वह सिर पीट लेता – "मैं आत्महत्या कर लूँगा।" मैंने जिज्जी को बताया तो वे उसे अपने साथ शाहजहाँपुर ले गयीं और तीन-चार महीने रखा। वहाँ वह ठीक रहा। यूनिवर्सिटी ज्वॉइन करने के लिए वह फिर लखनऊ आ गया। वह चाहता था कि हमारा परिवार (बुलबुल, मैना, पापा, मम्मी और वह खुद) शान्ति से रहे। कुछ समय से वह इस भ्रम से उद्वेलित था कि ये लोग मेरे माता-पिता नहीं हैं – मैं या तो लावारिस हूँ, उठाकर लाया गया, इसलिए बचपन से अलग-थलग रखा गया या मेरी माँ चरित्रहीन है, राजनीति तो बहाना है, इसी कारण पापा उन्हें नापसन्द करते हैं। मुझसे वह इसलिए दूर-दूर रहता कि मेरी घर में जब चलती नहीं है, तो मुझ बुद्धिहीन से बात करके वह कैसे सन्तुष्ट हो सकता है।

पाण्डेय जी का अचानक मोटर साइकिल पर एक्सिडेण्ट हो गया, उनकी गर्दन की हड्डी में गहरी चोट आयी, वे घर न आकर रामगोपाल के घर चले

गये – इन दिनों हरी का परिवार नहीं रहता था। तीन बच्चे और मैं ही घर में थी। हम चारों रातभर रास्ता देखते रहे। मैना 104° डिग्री बुखार में तप रही थी। जब सुबह चार बजे, तो अन्नू को ढूँढ़ने भेजा, वह साइकिल लेकर कई जगह गया, अन्त में रामगोपाल के घर में पता चला कि इलाज के लिए मेडिकल कॉलेज में दाख़िल करा दिया है। मैं सुनकर घबरायी और घर में बीमार मैना को बुलबुल के सहारे छोड़कर मेडिकल कॉलेज पहुँची। वहाँ देखा कि तीस-चालीस शिक्षकों तथा परिचितों की भीड़ लगी है, सबको पता था, एक मुझको छोड़कर! बहरहाल मैं उनके पास स्टूल पर बैठी रही और अन्नू मैना की दवा लाने के लिए घर चला गया। मेडिकल कॉलेज में सुरेश चार महीने रहे – रीढ़ और गर्दन की हड्डी के इलाज हेतु। इस दौरान अन्नू ने मोटर साइकिल चलाना सीख लिया और बुलबुल ने तरह-तरह के लोगों की ख़राब नज़रों और छेड़खानी से बचने के लिए मनोज के साथ शादी करने का निश्चय कर लिया। चूँकि जोशी परिवार हमारा परिचित था। एम.एस.एस. में मनोज के नाना-नानी जो हरी चन्द और चुटकी भण्डार के प्रिंसिपल थे – सक्रिय थे। मिसेज़ जोशी क्वीन गर्ल्स स्कूल की हेडमिस्ट्रेस थीं – बाद में सरस्वती चली गयीं, और आन्दोलनरत रहीं। मुझे कोई ख़ास परेशानी नहीं हुई, लेकिन बाक़ी रिश्तेदारों ने बायकाट किया। शकुन तो आयी ही नहीं।

घर की उपर्युक्त परिस्थितियों ने मेरी गतिविधियों को एकदम कम कर दिया। एम.एस.एस. ठण्डा होता गया। अब जो ग्रुप आता, उसका लक्ष्य केवल एम.एल.सी. द्वारा धन कमाना या अपना काम निकालना रह गया। संगठित शक्ति बिखर गयी... बिखरती जा रही थी। 1984 में दोनों लड़कियों की शादी हो गयी। 1985 में पाण्डेय जी रिटायर हो गये। उन्होंने अपने पी.एफ़. का रुपया हरी के बच्चों के नाम फ़िक्स कर दिया। मैं और अन्नू उनके मन और डायरी से निकल चुके थे। और एक बार पुन: हरी का परिवार बुला लिया गया। मैं और अन्नू विरोध करने के बावजूद कुछ न कर सके। शकुन की दो बहनें, भाई, भतीजे, उसके अपने बच्चे, पाण्डेय जी के जज (छोटे) भाई, ट्यूशन पढ़ने वाले लड़के – इन सबके रहते हुए दोपहर 11 बजे अन्नू ने आत्महत्या कर ली! लेकिन यह कैसी आत्महत्या है? उसके पैर जूतों सहित ज़मीन पर रखे हुए थे, सिर छत से छह इंच मात्र नीचे था, गाउन की एकदम पतली डोरी छूते ही टूट गयी। मुझे स्कूल से हिमांशु बुलाकर लाये – आँसू सूखकर जम गये, दिल पत्थर हो गया... एकदम अविश्वसनीय। पुलिस केस और पोस्टमार्टम रिपोर्ट पैसे के बल पर दूसरे ही दिन प्राप्त हो गयी। इसी दिन सभी अख़बारों ने छापा – 'एम.एस.एस. कार्यकर्ता के शराबी पुत्र ने आत्महत्या की', 'यूनिवर्सिटी रीडर के

पुत्र ने फाँसी लगा ली', 'शराब के लती छात्र ने आत्महत्या की' – सच्चाइयों की गहराई कौन जाने? कौन बताये कि डी-68 के भावी वारिस को फूँक मारकर धूल में मिला दिया गया – और एक जीवन का अध्याय ख़त्म हो गया।

जिज्जी (अन्नू की पालिता अम्मा) सालों बिलखती रहीं – "कमला! मेरे अन्नू ने आत्महत्या नहीं की, उसकी हत्या की गयी है।"

और मेरे विक्षिप्त हो बिठूर चले जाने पर उन्होंने लम्बा पत्र लिखा – "जब संघर्ष करना चाहिए था, तब तुमने नहीं किया, किससे डरीं तुम? अब दुनिया से डरकर भागना किसलिए? मैं आस्तिक, लाखों बार राम का नाम लिख-लिख जपती रही, हज़ारों रामनाम की गोलियाँ बना डालीं, लेकिन राम ने मेरे अन्नू को नहीं बचाया। अब तुम रामधाम गयी हो, राम की शरण सरासर झूठ, एक और धोखा! तुमने राम को कभी नहीं माना। अब क्या जपोगी!" उन्होंने समझाया – "देखो कमला! इन्सान जब तक जीता है, उसे खाना, पानी और छत का जुगाड़ करना पड़ता है। तुम्हारा अपना मकान है – शरणदाता, उसे लोग बेच रहे हैं, बरबाद कर रहे हैं। लाल शकुन और हरी परिवार के चंगुल में हैं। बुलबुल के परिवार से भी सावधान रहना। पहले तुम बिठूर छोड़कर लखनऊ आओ, अपने मकान पर अपना क़ब्ज़ा करो, फिर बेचना-खोंचना। मैं लखनऊ गयी थी, शकुन की मलकियत देखी। तुम नहीं थीं और लोग थे, लेकिन पूरा घर सूना लगा। एक गिलास पानी भी नहीं पिया, और चारबाग़ से दूसरी गाड़ी पकड़कर घर वापिस आ गयी हूँ, और तुम्हें पत्र लिख रही हूँ। अपने आने की ख़बर देना।"

– तुम्हारी जिज्जी मुन्नी

लालबाग़ के लोगों ने, मेरी बड़ी बहन ने, निर्मला प्रधान तथा अन्य परिचितों ने पता लगाकर एक के बाद एक बिठूर आकर मुझे वापस अपने कर्मक्षेत्र में आने के लिए अनुरोध करना शुरू किया। लालबाग़ स्कूल के मैनेजर-प्रिंसिपल ने मेरा इस्तीफ़ा फाड़ डाला, सालभर की छुट्टियाँ अपनी तरफ़ से दीं। उन लोगों ने दबाव डाला कि मैं स्कूल आकर सिर्फ़ बैठी रहूँ, एक भी क्लास न पढ़ाऊँ, लेकिन न कहीं भागूँ, न घर में बैठूँ, हम सब तुम्हारे ग़म में तुम्हारे साथ हैं – और जब मैंने अन्ततः स्कूल ज्वॉइन किया, तो सबने मिलकर मेरे स्वागत में बहुत शानदार भोज दिया। जब मैंने लायब्रेरी स्थापित करने की अपनी इच्छा प्रकट की, तो पूरे स्टाफ़ ने मिलकर गोदरेज की बुकशेल्फ़, मिल्टन का थर्मस और छह कप की कॉकरी दी। 'अनुराग बाल केन्द्र' के स्थापना दिवस 15 अप्रैल 1992 को आर्थिक सहयोग के अतिरिक्त तथा हरेक ने एक-एक दो-दो पुस्तकें लायब्रेरी के लिए डोनेट कीं। फिर

'अनुराग बाल पत्रिका' की शुरुआत हुई। फिर नये हमसफ़र कामरेड मिले। विचारधारा और राजनीति पर विचार-विमर्श का लम्बा सिलसिला चला। अतीत के विश्लेषण-समाहार की नयी दृष्टि मिली और भविष्य-निर्माण की नयी दृष्टि मिली। ज़िन्दगी की त्रासदियों और आयु की बाधा भूलकर मैं 'राहुल फ़ाउण्डेशन' के साथियों के साथ नये सिरे से सामाजिक सक्रियता के वृहत्तर दायरे में उतरी। वैज्ञानिक दृष्टि-सम्पन्न आने वाली पीढ़ियों की तैयारी के लिए 2001 में 'अनुराग ट्रस्ट' का पंजीकरण हुआ और 2003 में उसकी सार्वजनिक घोषणा हुई। पुस्तकालय, पत्रिका, प्रकाशन आदि सभी उपक्रमों को अब इसी बैनर तले संचालित किया जा रहा है। उम्र के इस पड़ाव पर पहुँचकर, लगता है कि मुझे नया जीवन और जीने की नयी राह मिल गयी है।

इस प्रकार ज़िन्दगी की इस सन्ध्या वेला में मैं अपनी समस्त शेष ऊर्जा 'अनुराग ट्रस्ट' के माध्यम से भावी पीढ़ी को समर्पित करती हूँ। मुझे सन्तोष है कि विचारवान बुद्धिजीवी साथियों ने मेरे लक्ष्य के प्रति समर्पित भाव से सही दिशा में क़दम उठाया है, और आगे के लिए भी विश्वास है कि हमारे ट्रस्टी मानसिक-उत्तराधिकारी के रूप में अनुराग बाल केन्द्र के मूल्यों और लक्ष्य को आगे बढ़ायेंगे।

शब्दचित्र

"व्यक्ति से संस्था महान होती है।" दद्दा का बताया हुआ यह वाक्य भविष्य में भी मेरा मार्गदर्शक बना।

मेरे दद्दा मेरी ज़िन्दगी के सबसे प्रेरक तत्व – शिवदर्शन लाल अग्निहोत्री मेरे चचेरे ताऊ के लड़के – जो मुझसे लगभग पच्चीस-तीस साल बड़े होंगे – मेरे पिता, गुरु, दार्शनिक और साथी बने।

और अन्त में बनाया मुझे अपना वैचारिक वारिस...

– कमला पाण्डेय

किसान-पुत्री

हमारी अम्मा – लक्ष्मी देवी (लक्ष्मी, लक्ष्मन) मिश्रीलाल तिवारी, अगौस गाँव के एक किसान की बेटी थीं। जब वे दो साल की थीं, उनकी माँ चल बसीं। तब हमारी दादी, जो नाना परिवार की घनिष्ठ थीं, बच्ची को अपने साथ ले आयीं। अपने बच्चों के साथ पाला-पोसा। उन्हें घर-गृहस्थी के छोटे-बड़े बहुविध काम-धन्धे सिखाये। और जब वह नौ वर्ष की हुईं, तो अपने तेरह वर्षीय मँझले पुत्र द्वारका प्रसाद के साथ विवाह-सूत्र में बाँध अपनी बहू बना लिया। लक्ष्मी रूपवती, स्वस्थ एवं कामकाज में दक्ष बालिका थीं। अब वे बहू थीं, और बहू की पद-मर्यादा के अनुरूप सिखाये गये धर्म-कर्म का यथावत् पालन करतीं।

अम्मा प्रखर बुद्धि की धनी थीं। शारीरिक श्रम मानो उनका मनोरंजन था। वे क्षणभर भी ख़ाली न बैठतीं। आलस्य उन्हें छू तक न गया था। अतिशय कमेरी। साफ़-सफ़ाई हो, व्यवस्था हो, खाना बनाना, परोसना हो, चाहे अतिथियों का अतिथि-सत्कार एवं बुजुर्गों का ध्यान रखना हो, हर काम में उनकी पूरी निष्ठा, रुचि और हुनर झलकता। दादी का विशेष दुलार तो उन्हें मिला ही था। बाबा, उनके भाई, जेठ, देवर तथा अन्य रिश्तेदार – सभी उनके आदर-सत्कार से प्रभावित थे। कोई भी आगन्तुक आता, उनके मधुर व्यवहार और सुरुचिपूर्ण कार्य से सन्तुष्ट हुए बिना न रहता। उनके काम की सराहना होती। सबकी ज़ुबान पर मँझली का नाम रहता।

घर में हलवाई का धन्धा ही जीविकोपार्जन का साधन था। सारा काम घर के लोग ही मिलजुलकर करते। अम्मा काम में ऐसी पारंगत थीं जैसे कोई मशीन...

ख़ूब तड़के उठकर आटा के लिए बोरों-बोरों गेहूँ झाड़-फटककर साफ़ कर डालतीं। खड़ी उड़द, मूँग, चना आदि दराँती में दलकर दालों के छोटे-बड़े दाने, चूनी, भूसी आदि अलग-अलग कर दही बड़ों के लिए दाल भिगोकर तैयार रखतीं, जिसे सिल पर बुआ पीस डालतीं।

नाना की दी हुई भैंस सिर्फ़ अम्मा को पास फटकने देती। वे उसे दुलरातीं,

चारा देतीं, उसका दूध दुहतीं। दूध बरोसी में गरम करतीं। वे तरह-तरह के जमाऊ व उठाऊ चूल्हे, अँगीठियाँ और बरोसियाँ बनाती रहतीं। मिट्टी के बर्तन बनाने के लिए मज़बूत चिकनी मिट्टी तैयार करने में वे सिद्धहस्त थीं। मिट्टी कूट-छानकर उसमें सड़े-गले कागज़, चिथड़े, भूसा व पुतनी मिट्टी मिलाकर तैयार करतीं। वे दूध ठण्डा करके दही जमातीं, जमे दही को मथकर मक्खन और मट्ठा निकालतीं। सुबह नाश्ते में सबको ताजा पिसा सत्तू, मट्ठा, राब और दूध देतीं। वे मुंगौड़ी, मिथौड़ी, सेंवई और पापड़ घर पर ही बनातीं। पुराने कपड़ों की मुलायम कथरियाँ, बच्चों के झबले, रंग-बिरंगे कपड़े-किनारियों को काट-छाँटकर अनेक खिलौने, चिड़िया, गुड़िया, पंखों में लगायी जाने वाली गोटें सिलतीं।

सीकों के पंखे और बाँस व खजूर के पत्तों की डलियाँ बुनने और लीप-पोतकर सुखा देने के बाद उनमें रंग-बिरंगे डिजायन उनके कला-प्रेम को दर्शाते। ये सभी चीज़ें रोज़मर्रा की सुविधाएँ थीं। उन्हें कपड़े रँगने और भित्तिचित्र बनाने का भी शौक़ था।

हम सब बच्चों पर उनकी स्वच्छता-व्यवस्था और श्रम-प्रेम का गहरा प्रभाव पड़ा। हम बच्चे दुकान में काम करने वाले नौकरों को सम्मान के साथ दादा, चाचा, मामा, भैया आदि उम्र के अनुरूप सम्बोधनों से बुलाते, उन्हें सहयोगी समझते, नीच या हेय नहीं। वे हमारे संरक्षक की तरह थे, जो किसी अनुचित काम करने पर हमें डाँट भी सकते थे।

हमारे घर में विशेषकर अम्मा का यह परिश्रम ही था कि मेहनत-मशक्कत करने वाले नौकरों, मज़दूरों, श्रमिकों और दुरदुराये गये निम्न वर्ग के लोगों के प्रति उनकी स्वाभाविक सहानुभूति थी। उनकी दुख-तकलीफ़ें, शोषण और उत्पीड़न देखकर उनकी सहायता के लिए वे बेचैन हो उठतीं। और समय-समय पर उन्हें पर्याप्त खाद्यान्न, कपड़े, रुपये-पैसे आदि देकर सहायता करती रहतीं...

जिज्ञासु स्त्री

अम्मा पढ़ी-लिखी न थीं, पर वे बातों को परखकर गुनतीं। घटनाओं पर गहराई से सोचने और निष्कर्ष निकाल लेने की उनकी आदत लोगों में श्रद्धा और भय दोनों उत्पन्न करती थी।

रात के लगभग 11 बजे होंगे, हल्की-हल्की ठण्ड शुरू हो गयी थी। दादी खा-पीकर सो गयी थीं। अम्मा लालटेन की रोशनी में कुछ सिलती हुई बैठी बापू के दुकान बन्द कर घर आने की बाट जोह रही थीं...

शाम को प्रायः पक्का खाना ही बनता था। सब्ज़ियाँ बन चुकी थीं, दही, बुकनू, अचार था ही, दूध गरम था, अम्मा पराँठे सेंक लायीं... बापू ने साथ लेकर आये भतीजे शिवदर्शन लाल के बारे में खाते-खाते बताया – "मल्लावाँवाले दादा और भौजी ने इसे घर से निकाल दिया, क्योंकि यह धर्म-भ्रष्ट हो गया है, नीच जात के लोगों के घर में खाता-पीता है, उनकी संगत करने वाला यह म्लेच्छ ब्रह्मराक्षस हो गया है, यह ब्राह्मण घर में रखे जाने योग्य नहीं है... इससे घर वालों ने इसे त्याग दिया है...।"

अम्मा ने किशोर लड़के को देखा – सौम्य, सरल, भोला मुख – लेकिन कुछ भी पछतावा नहीं... स्वाभिमान और संकल्प की दृढ़ता से भरा एक निराला-सा नन्हा व्यक्तित्व...

अम्मा स्तब्ध रह गयीं। उनका तर्कशील मन प्रश्नों से भर उठा... यह बालक पतित है? धर्मभ्रष्ट है? ब्रह्मराक्षस है? उनका जिज्ञासु मन बार-बार पूछने लगा – इतना कमज़ोर है हमारा धर्म? क्या धर्म कोई तिनका या छुई-मुई का पौधा है जो किसी बच्चे के छूने, उसके साथ खेलने और संग रहने की खुशीभर से टूट जाये... ऐसा नाज़ुक धर्म? – ऐसा धर्म तो खुद एक बोझ है, जिसे ढोना है, उठाये चलना है। भला ऐसा धर्म भूख, प्यास, बीमारी, ज़िन्दगी की परेशानियों से आदमी को कैसे बचा सकता है? सही रास्ता खोजने और चलने की ताक़त कैसे देगा?

ज्ञानी तो कहते हैं – "हर बच्चा भगवान का रूप है। उन्हीं की देन है। सबमें एक ही आत्मा है, परमात्मा का अंश।" तो फिर सब एक बराबर क्यों

नहीं हैं? ऊँच जाति, नीच जात, छूत-अछूत आदि भगवान ने बनाये या हमने? उनका मन विकल हो उठा... अगर ऊँच-नीच भगवान ने बनाये, तो क्यों? भगवान क्या अन्यायी है? भेदभाव करने वाला... और अगर ऐसा है, तो क्यों?

वे प्रचलित मान्यताओं, परम्पराओं, अनुष्ठानों आदि के ख़िलाफ़ कुछ भी कहने, सुनने या निर्णय लेने की स्थिति में न थीं... बड़े-बुजुर्गों के सामने छोटी थीं... बहू थीं... परन्तु उनका विद्रोही मन इन बातों से असहमत था...

वे गले में कण्ठी पहनना, माला फेरना और घण्टी बजा-बजाकर बैठे-बैठे फोकट में समय गँवाना एक ढोंग समझती थीं। वे स्वयं कोई व्रत-उपवास नहीं रखती थीं, लेकिन घर के और लोग रखें, तो उनके लिए खाना-पीना या ज़रूरत की चीजें तैयार करने में उन्हें कोई उज्र न था। वे बापू द्वारा भगवान को नहलाते समय बोले गये श्लोकों का पारायण सुनती रहतीं... पर उन्हें नाना द्वारा सुनाये गये कबीर और रहीम के कई दोहे बार-बार याद आ जाते – वे इन दोहों के मतलब समझतीं और गुनती थीं। उन्हें दादा के धर्मभ्रष्टता के लगाये आरोप की बार-बार याद आती – और मन ही मन हँसी भी... जो उन पर ठीक बैठता था –

"माला फेरत जग मुआ, गया न मनका फेर।
करका मनका डारि दे, मन का मनका फेर।।"

इस दोहे ने जैसे उनके दिल की बात कह दी हो – इसी तरह उन्हें ज़िन्दगी से जुड़ा यह दोहा भी बहुत अच्छा लगता था –

"पाथर पूजे हरि मिलैं, तौ मैं पूजूँ पहाड़।
घर की चाकी काहे न पूजै, जाको पीसा खाय।।"

वे कबीर की प्रेम और एकता भावना को ठीक समझती थीं...

शिवदर्शन कुछ समय तक दुकान में ही रहते रहे। वहीं काम करते, खाते-पीते और रात को सो जाते... फिर एक दिन अम्मा को पता चला कि लड़का काम की खोज में कहीं बाहर चला गया है।

कानपुर में पुनः आगमन

एक लम्बे अर्से बाद शिवदर्शन पुनः कानपुर आये। दुकान में काम करते हुए ही उन्होंने किसी मुसलमान पेण्टर से रात में जा-जाकर पेण्टिंग का काम सीखा था। कुछ पढ़ना-लिखना भी। फिर उसी के सम्पर्क-सूत्र से वे बम्बई चले गये। वहाँ मज़दूरों के बीच रहे। तरह-तरह के छोटे-बड़े काम-धन्धे किये। मशक्कत करने वाले समुदाय के दुख-दर्द अनुभव किये। 1920 में जब रूसी सर्वहारा क्रान्ति से अनुप्राणित कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई, तो वे उसके सक्रिय सदस्य हो गये। उन्होंने मज़दूरों के बीच पार्टी की यूनियनें गठित कीं, उनका नेतृत्व किया। वे मज़दूरों को उनका हक़-हुकूक समझाते। शोषण, उत्पीड़न के ख़िलाफ़ उनकी व्यक्तिगत एवं सामूहिक लड़ाई लड़ते। चक्का जाम, अधिकारियों का घेराव तथा हड़तालों में, साथियों के साथ बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते। उन्होंने विदेशी सत्ता एवं साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ मोर्चा ही खोल दिया। अंग्रेज़ सरकार ने उन्हें कई बार जेल भेजा, पर जेल से छूटते ही वे मज़दूरों को पुनः संगठित करने का काम करने लगते। 1934-35 के आसपास गिरनी कामगार यूनियन की ज़बरदस्त हड़ताल हुई, पहले उन्हें बम्बई घुसने पर जेल भेजा, फिर छूटते ही उनके बम्बई घुसने पर पाबन्दी लगा दी गयी। कुछ दिन बाद उन्हें 'बम्बई-निकाला' ही दे दिया गया (पार्टी में शिवदर्शन का नाम शिव शर्मा था)। अब शिव शर्मा भूमिगत होकर कानपुर आ गये। वे हमारे घर आकर रहने लगे। बड़े सबेरे मुँह अँधेरे ही घर से निकल जाते। टेनरी में कार्यरत चमड़ा मज़दूरों की अतिदयनीय दशा को सुधारने के लिए गुपचुप रूप से वे उन्हें जागरूक और संगठित करने लगे। वे जाजमऊ से शुरू कर एलगिन मिल, लाल इमली और जे.के. जूट मिल के मज़दूरों के बीच उनकी बस्तियों में जाते, गुप्त मीटिंगें संचालित करते, उन्हें देश के हालात समझाते; गुलामी का जुआ उखाड़ फेंकने के लिए फ़िरंगियों को भारत से भगाना पहला और ज़रूरी काम है – इसे समझाते।

अम्मा और दद्दा यानी चाची और भतीजे की उम्रों में चार से छह साल का फ़र्क़ रहा होगा। हमारे घर में संयुक्त परिवार था। घर एक था पर सबके कमरे और चौके अलग-अलग थे। पिताजी तीन भाई थे, सो बड़ी अम्मा, दादा (होरीलाला), चच्चा (शम्भू), चाची और परिवार तथा हमारे बापू-अम्मा और नाना का खाना अलग-अलग बनता था। दद्दा हमारे यहाँ खाना खाते थे। छत पर टीन वाले कमरे में नाना के साथ रहते थे। उनके घर में आकर रहने से और हमारे परिवार से अधिक सम्पर्क को देखकर अन्य परिवारी जन विशेष सतर्क हो गये। यह ख़बर मल्लावाँ भी पहुँचा दी गयी, बड़े दादा के न रहने पर मल्लावाँवाली अम्मा ही समस्त ज़मीन-जायदाद और बड़े से परिवार की सर्वेसर्वा थीं। शिवदर्शन द्वारका-मँझली के घर – यह ख़बर सुनकर वे अपमान और ईर्ष्या से भर उठीं। "मेरी बात दुलखी गयी?"

मल्लावाँवाली ताई को यह बात बहुत ही नागवार गुज़री कि जिस धर्मभ्रष्ट लड़के को उन्होंने अपने घर से निकाल दिया उसे द्वारका और मँझली (माँ) किस लालच से सगा बनाये हुए हैं। ब्राह्मण धर्म से गिरे हुए जवान लड़के को मँझली का घर और चौके में घुसाने का मतलब?... अम्मा ने ऐसी बेहूदी सोच भरी पंचायतों को बहुत बार नज़रअन्दाज़ किया। पर रोज़-रोज़ ऐसी बातें सुन-सुनकर एक दिन अम्मा ने बापू से कहा –

"विद्या के बापू, सुना तुमने – जिज्जी (जेठानी) ने कहलाया है कि दो रोटी तो हम भी खिला सकते थे, लेकिन जात-कुजात के संग-साथ रहने-खाने वाले अधर्मी लड़के को रखना क्या ठीक है, मँझली उसे क्यों रखे हुए है? ब्राह्मण चौके में ब्रह्मराक्षस को घुसाना – देख लेना वंश के लिए अनर्थकारी होगा।"

लेकिन अम्मा अनर्थ के भय से न डरीं-सहमीं, न पीछे हटीं; उन्होंने दृढ़तापूर्वक दद्दा के कार्यों और विचारों का समर्थन किया, उन्होंने कहा –

"जिज्जी की बातैं – उनै विधर्मी फिरंगी नाईं दिखात, उनै जौ नाईं दिखात कि तिल-तिल जोड़ी जमा जथा जे विदेसी कैसे लूटि रहे, बैयर बानिन की बेइज़्ज़ती तौ छोड़ौ, जे मनुख कौं मनुख नाईं समझत औ हमाईं ज़मीन जायदादौ क़ब्ज़ात जात... नास पीटे, दाढ़ी जारन की तासना जिज्जी कौ नाईं दिखात जाके उलट फिरंगी उनके सगे लगत...

"विद्या के बापू! भगवान ने उनै इफरात लरिका (सात लड़के, दो लड़कियाँ) दै दयै, सो बे लरिकन की कदर का जानै? शिवदर्सन जैसो सन्त हीरा लरिका... भूखो, प्यासो, थको-हारो, न दिन समझै न रात, पानी बरसै, चाहे पाला परै, बौ बाग़ी बनो जुल्मी फिरंगिन कौं भगाउन मै जुटो परौ है। बाक़ी

फिरंगिन सों लड़ाई लगी रहत, तासौं जुद्ध मैं जो साथ रहै, वहै संगी – बौ चाहे, धोबी, धानुक, भंगी, चमार, पासी होय चाहे तुरिक, मुसल्टा, जुलाहा... लड़नबारेन कौं गिरस्ती धर्म निभाउन की कहूँ फुरसत है, बताबौ – बे तौ मुरैठा बाँधे, जान हथेली पै धरे चलत जात...

"पै जिज्जी हैं कि पेट जाये लरिका कौं पानी पी-पी रात-दिन कोसतीं – कहूँ ऐसी होती हैं मताई?"

बापू ने कहा – "ना समझ लोग, कहन देव, परवाह न करौ। हमारे रहत कक्कू (नाना) औ सिवदर्शन हिंयई रहि हैं, कहूँ नाईं जइयैं... जैसे विदउवा (विद्या जीज्जी), कमला, बाबू वैसे शिवदर्शन बड़ो भैया...।"

अब दद्दा हर रोज़ अलग रिहाइश ढूँढ़ने से मुक्त थे।

जागरूक नारी

1939-40 – दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो गया। देश का निम्न वर्ग महँगाई, उत्पीड़न, बदहाली, ग़रीबी और असुरक्षा से बेहाल... मज़दूरों, मज़लूमों के दुख-दर्द से सहानुभूति रखने वाले दद्दा की व्यस्तता मानो और भी बढ़ गयी...

वे घर में पार्टी का 'लोकयुद्ध' अख़बार ले आते... अपढ़-निरक्षर अम्मा मुझसे अख़बार का अक्षर-अक्षर पढ़वाकर सुनतीं। धीरे-धीरे उन्हें पता चल गया कि किन-किन देशों के बीच युद्ध हो रहा है? दोस्त कौन-कौन हैं और दुश्मन कौन...?

जर्मन देश का हिटलर दुनिया फ़तह करने निकला है, उसने फ्रांस, पोलैण्ड को जीतकर हालैण्ड, स्कॉटलैण्ड, इंग्लैण्ड आदि पर धावा बोल दिया है – उन्हें एक से सुनायी देने वाले नाम अच्छी तरह मालूम हो गये थे, मैं जहाँ कहीं अशुद्ध पढ़ती या अटकती, तो वे मुझे सुधार देतीं और कहतीं – आगे पढ़ो। अख़बार की ख़बरें सुनने से उन्हें देश के अन्दर की भी बहुत-सी बातें मालूम होती रहतीं।

गाँधी जी को वे सच्चा महात्मा समझती थीं – वे दुखी-परेशान हाल आदमी की बात ध्यान देकर सुनते हैं, तसल्ली देते हैं, और दुख का सामना करने की ताक़त के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं, लेकिन ज़ुल्मी दुश्मन का मुक़ाबला बहादुरी के साथ करते हुए नहीं सुना... उनकी समझ थी कि "जैसे पृथ्वीराज चौहान लड़े, आल्हा ऊदल ने बहादुरी दिखायी, झाँसी की रानी ने तो बच्चा पीठ पै बाँधे-बाँधे दुस्मनन कौं दौड़ाय लओ बा बात गाँधी महात्मा में नाईं सुनीं, तौ फिर भला अंग्रेज़ दुश्मन उनसे काये कौं डरैं...?"

अम्मा-बापू भ्रान्तियों के भी शिकार थे। अम्मा-बापू दोनों ही जर्मनों को अंग्रेज़ों के मुक़ाबले भला और विद्वान समझते थे। उन्होंने देखा अंग्रेज़ ईसाई जगह-जगह ईसाई बनाते फिरते। मिशनरी – ये पहले बच्चों को स्कूल बुलाकर ईसाई बनाते और फिर पूरे परिवार को क्रिस्तान बना देते। मिशनरी क्रिस्तान धर्म के स्कूलों में ज़बरदस्ती ईसाई धर्मग्रन्थ हम पर लादने में लगे हुए हैं। अंग्रेज़ों के भेजे ये दुश्मन हमारे धर्मग्रन्थों को नष्ट कर रहे हैं, जबकि जर्मन विद्वानों ने रक्षा

की। वे संस्कृतज्ञ हैं। उन्होंने हमारे वेद, उपनिषदों और ग्रन्थों को छापा, उनका उल्था कराया, बचाया है, तभी तो सुभाषचन्द्र बोस अंग्रेज़ों को भगाने के लिए जर्मनों से मदद माँगने गये हैं।

'लोकयुद्ध' सुनने और दद्दा से बातचीत के बाद उन्हें पता चला कि जर्मनों का नेता हिटलर तानाशाह है, ग़रीब-गुरबों को सताने, मार डालने वाला। वह दुनिया फ़तह करने निकला है, सो गाँव के गाँव उजाड़ता-जलाता, आदमी-औरत-बच्चे-बूढ़े – सबको मारता-काटता, रौंदता, कुचलता क़ब्ज़े पर क़ब्ज़ा करता जा रहा है। कई सालों से यह लड़ाई तबाही पर तबाही मचाते चल रही है और अब अकेला रूस देश उससे टक्कर ले रहा है। जर्मनों ने जापान और इटली को मिला लिया तो रूस, फ्रांस, इंग्लैण्ड, अमेरिका एक हो गये। ये मित्र-राष्ट्र हैं। लड़ाई की इस रस्साकशी में – रूस का नेता स्तालिन सबसे ज़्यादा समझदार और बहादुर दिखायी पड़ रहा है – इस जंग में यह पहलवान ज़रूर जीत जायेगा, तानाशाह हिटलर हार जायेगा...

अम्मा की बातचीत से पता चलता कि उन्हें चन्द्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह वग़ैरह का शान के साथ लड़ाकू तरीक़ा पसन्द था। वे ख़ुश होकर कहतीं... "देखौ छोटे-छोटे लरिकन ने बेईमान अंग्रेज़ सरकार कौं थर-थर कँपवाय दओ... तासों पहले भगतसिंह, सुखदेव, राजगुरु को पकरि के जेहल में बन्द करो, फिर इन लरिकन कौं मारे डर के रात के अँधेरे मैं फाँसी पर चढ़ाय दओ। जा परखिबे की बात है कि जे अंग्रेज़ जो इतने बड़े राजा हैं, दुनियाभर में जिनको राज, उनकी इन लरिकन ने फूँक निकार दई।"

***

एक बार मैंने उनसे पूछा – "अम्मा मेरी ठीक-ठीक उमर क्या है? स्कूल के फ़ार्म में लिखाना है।" उन्होंने कहा – "जब भगतसिंह कौं फाँसी दई गयी, तब तुम आठ महीने की गोद मैं हतीं, बाक़ी हिसाब तारीखन को, सो तुम लगाय लेव।"

अम्मा को इसी तरह देश की आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक उलटफेर की अनेक जानकारियाँ थीं, और उन्हें आगे के घटनाचक्रों को जानने की उत्सुकता भी होने लगी।

शिव शर्मा दद्दा और मैं

तब मेरी उम्र लगभग चार-पाँच वर्ष की रही होगी – कुछ दाँत टूट जाते, कुछ नये निकल आते... दद्दा (शिव शर्मा) टीन की छत वाले कमरे में चटाई पर सीधे लेटे गहरी नींद सो रहे थे।

दोपहर के समय – बच्चों को आँखें बन्द कर चुपचाप लेटे रहने के बजाय शैतानियों से मिलने वाली खुशी पाने की बेचैनी होती, इसलिए दोपहर में प्रायः वे बड़ों की आँख बचाकर छत पर भाग आते, हम सब परिवारों के पाँच-छह बच्चे यहाँ जुटते, यहाँ हम स्वतन्त्र होते, मिलजुलकर उछलते, कूदते तरह-तरह के खेल खेलते, लड़ाई-झगड़ा करते, पर बड़ों की डाँट-मार के डर से थोड़ा कम ही शोर मचाते... ऐसी ही दोपहर में मेरी नज़र अचानक सोते हुए दद्दा की नाक पर पड़ी, जिनके नथुने साँस के साथ ही फूलते और पिचकते... लगा कोई कौतुक है, बाल सुलभ जिज्ञासा – मैं उनके सीने पर चढ़कर बैठ गयी और ज़ोर से उनकी नाक में अपने पैने दाँत गड़ा दिये, जिससे खून निकल आया... दद्दा चौंककर जाग गये। अनायास उनका हाथ मारने के लिए उठा, सारे बच्चे खिलखिलाकर हँस पड़े – "अच्छा है, अच्छा है मार पड़े – खूब मार पड़े... हा-हा-हा..." उन्होंने तालियाँ बजायीं – खून की कुछ बूँदें उनके कुर्ते पर टपक पड़ीं, वे कुछ देर तक क्रोधावेश में मुझे घूरते रहे, पर न मारा, न डाँटा, न अम्मा से शिकायत की – मैं सहमकर किनारे खड़ी एक ओर अपराध की किसी भी सज़ा – मार खाने, कान पकड़ने, उठक-बैठक आदि करने के लिए अपने को तैयार कर रही थी, तो दूसरी ओर समवयस्क बच्चों द्वारा किये जा रहे अपमान से त्रस्त हो रही थी।

उन्होंने मुझे इशारे से पास बुलाया और पूछा – "तुमने काटा?" मैं चुप थी, उन्होंने फिर पूछा – "क्यों काटा?" फिर चुप... "क्यों? क्यों?"

मैंने डरते-डरते कहा – "दद्दा दाँत रौरियात हते।" इस सत्याभिव्यक्ति को सुनते ही उनकी नज़र बदल गयी – उन्होंने प्यार से सिर पर हाथ रखा और कहा – "पहले सोचो", उन्होंने कुरते पर टपकी खून की बूँदें रूमाल से पोंछी, नाक भी पोंछी, फिर कहा – "आगे गन्दी बात नहीं करना।" मैं अपराध-बोध

से सन्न थी, आँखों से आँसू टपक पड़े... बच्चे आश्चर्यचकित थे, दद्दा को चोट मारी, खून निकाल दिया, पर सज़ा के तौर पर एक थप्पड़ भी नहीं पड़ा...

दद्दा के इस व्यवहार, इस 'पहले सोचो' और 'गन्दी बात' जैसे अति सामान्य शब्दों में पता नहीं क्या था – क्षमा, उपदेश, मार्गदर्शन या सभी कुछ... जो मुझे कोई भी काम करने या निर्णय लेने के पहले सावधान कर देता... ये शब्द ज़िन्दगी के हर मोड़ पर यातायात पुलिस की तरह 'पहले सोचो' मानो सिग्नल देते दिखायी देते हैं, जो सही या ग़लत की परख का निर्णय लेने में एक क्षण ठहरकर सोचने में मेरी आज भी मदद करते हैं।

विपन्न बचपन

सुरेश पाण्डेय जब पाँच-छह वर्ष के थे, उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। पिता कचहरी में सरकारी मुलाजिम, जगह-जगह तबादला होता रहता... परिवार में एकमात्र वृद्ध ताई अम्मा बचीं। तीन बड़ी लड़कियाँ, चार छोटे लड़के... साहसी अम्मा ने गहने बेचकर कानपुर के गिलिस बाज़ार (प्राग नारायण शिवाला, मेस्टन रोड के समीप) की गली में एक छोटा-सा मकान ख़रीद लिया। सभी बच्चों को समेटकर वहीं स्थायी निवास बना लिया। बचे हुए गहनों के सहारे तीनों लड़कियाँ सामान्य घरों में ब्याह दीं और स्वयं महराजिन (खाना बनाने) का काम एवं मकान के एक भाग की किरायेदारी से प्राप्त अल्प आय से लड़कों का भरण-पोषण करने लगीं।

अम्मा ने लड़कों को प्राइमरी स्कूल में भर्ती कराया। राशन सिर पर लाद कर लातीं, अम्बर चरखा ख़रीदकर उस पर रात-रात बैठकर सूत काततीं – जुलाहे को सूत देकर वे उससे प्राप्त कपड़े से चादर, बच्चों की क़मीज़, जाँघिया (जिसे वे स्वयं काटकर सिल लेतीं), दरियाँ तथा अपने लिए ब्लाउज़ आदि बनातीं। गेहूँ, चना, मटर को मिलाकर पिसाये गये आटा की रोटी और सस्ती-सस्ती हरी सब्ज़ी व गुड़ देकर लड़कों को खिला-पिलाकर स्कूल भेज देतीं। लड़के बिगड़ न जायें, इस हेतु वे स्कूल मास्टरों से जीवन्त सम्पर्क बनाकर उनकी निगरानी रखतीं। बच्चों को भरपूर सुरक्षा और प्यार देतीं, उनके साथ बच्चा बनकर कई घरेलू खेल जैसे ताश, लूडो, शतरंज आदि तन्मय होकर खेलतीं।

गिलिस बाज़ार की इस गली में अधिकांश उच्च वर्ग के परिवार थे – धनी-मानी व्यापारी, डॉक्टर, वकील, क़ानूनगो, दरोगा, संगीतज्ञ, आचार्य बोडस तथा कांग्रेस समर्थक सिख परिवार... श्रद्धानन्द पार्क के तिलक हॉल में जो घर के निकट ही था, प्राय: कांग्रेस पार्टी-नेताओं के भाषण होते रहते। गाँधी जी के अहिंसात्मक आन्दोलन सम्बन्धी पर्चे बाँटे जाते, विभिन्न मुद्दों को लेकर जुलूस भी निकालते। अम्मा कभी-कभी इन जुलूसों में जातीं और व्याख्यानों से देश की दशा की जानकारी रखतीं। गाँधी भक्त अम्मा सोते समय बच्चों को कथा

रस में ढालकर ग़रीब-गुरबों के जीवन की कहानियाँ सुनातीं। उनके दिवंगत पति जो अंग्रेज़ों की फ़ौज में थे, उनके करुण अनुभव उनके मन में रच-बस गये थे, कभी-कभी कहानी बनकर वे उद्‌गार फूट पड़ते...

मुहल्ले के बच्चों के साथ लड़के पार्क में खेलने जाते तो किसी न किसी बात पर अक्सर उनमें लड़ाई हो जाती, सुरेश पीछे न रहते भले लहूलुहान हो जायें, दोनों छोटे भाई भी दादा के साथ जुटे रहते; कभी मारते, कभी मार खाकर आते... उच्च घर के लड़कों में शान-शौक़त ज़्यादा होती परन्तु स्वाभिमानी, कर्तव्यनिष्ठ अम्मा जिन्होंने अपनी एक साख बना ली थी, बच्चों का पक्ष लेकर उद्दण्ड बच्चों के घर जाकर उनके अभिभावकों को खरी-खोटी सुना आतीं... वे धमकी भरे लहज़े में कहतीं – "यह कोई न समझे कि ये विपन्न गिरे-पड़े बच्चे हैं, ये क़तई अनाथ या असुरक्षित नहीं हैं।"

अम्मा लड़कों की पढ़ाई का समय-समय पर ब्योरा लेतीं। उनके बस्ते और किताबें देखतीं कि कहीं किसी दूसरे की कोई चीज़ तो नहीं आ गयी है, या कोई हेरा-फेरी तो नहीं की है, लड़के अम्मा के आँचल की छाँव तले संघर्षमय जीवन जीते हुए विपन्न स्थिति में पल-बढ़ रहे थे।

उनके मन पर अम्मा के दृढ़चरित्र, कर्मठता, व्यवहार-कुशलता, जागरूकता और निश्छल प्यार की गहरी छाप थी।

राजनीति की ओर

नवीं में पहुँचते-पहुँचते डॉ. कृष्णानन्द के छोटे भाई रामानन्द सुरेश के गहरे मित्र हो गये। राय परिवार से बंगाल के सशस्त्र क्रान्तिकारियों, ख़ासकर जोगेश दा से घनिष्ठ सम्बन्ध था।

सहपाठी रामानन्द के साथ गुपचुप ढंग से सुरेश क्रान्तिकारी गतिविधियों से जुड़ते गये। अहिंसा का धीमा समझौतापरस्त रास्ता गुलामी से मुक्ति नहीं दिला सकता। बेड़ियाँ काटने के लिए शस्त्र चाहिए। साम्राज्यी शोषक को डराने के लिए छात्र वर्ग के दिल में जज़्बा हो, बम और पिस्तौल से तीखी लड़ाई लड़ने की ज़रूरत है... उत्साही छात्र रात-दिन यही सोचते।

1942 के 'करो या मरो' आह्वान के पहले ही कानपुर कोतवाली को बम से उड़ा देने की योजना अंजाम दी गयी... अनन्तराम श्रीवास्तव जोगेश 'दा' के अनुयायी थे। अभियुक्तों की धरपकड़ में उनकी डायरी पुलिस के हाथ लग गयी। दमनचक्र की कठोरता के सामने तेजनारायण न टिक सके, मुख़बिर बन गये... उन्होंने औरों के अलावा सुरेश का नाम बताया तो डायरी से मिलान पूरा हो गया... सुरेश हाई स्कूल का आख़िरी पर्चा देकर आये, और कानपुर से फ़रार हो गये। उस समय घर में कुल जमा तीन रुपये थे, जिसे अम्मा ने धोती के छोर से खोलकर उन्हें सौंप दिया।

फ़रारी जीवन

जयनारायण पाण्डेय (सुरेश) इटौंजा निवासी अपने वैद्य मामा दयाशंकर के घर पहुँचे। मामा बड़े वैद्य थे – अनेक सम्पर्क सूत्र – उन्होंने अपने एक सूत्र के साथ भांजे को चरखारी भेजा। म.प्र. स्थित इस इण्टर कॉलेज में उन्होंने इस विद्यार्थी को नरेन्द्र नाम से एडमिशन दिला दिया।

प्रधानाचार्य हृदय से मुक्ति-संग्राम के समर्थक थे, लेकिन प्रकटतः मात्र शिक्षाविद्... उन्होंने इस मिलनसार मेधावी छात्र को होस्टल में रहने का ठिकाना दे दिया। पर अपने खाने-पहनने का प्रबन्ध उन्हें स्वयं करना था। सुरेश ने केवल एक वक़्त खाने के लिए अपने को तैयार किया, वह खेतों की ओर निकल जाते, वहाँ लगे टमाटर, बेर और महुआ खाकर अपनी गुज़र करते। एक ट्यूशन भी मिल गयी, तीन रुपये मासिक की, अतः कभी-कभी सत्तू और चने भी ले आते...

स्कूल में एडमिशन लेने से पहले, छुट्टियों में वे मामा के यहाँ आते, छिपकर रहते। मामा प्रसिद्ध व्यक्ति थे, उन्होंने भारतीय ग्रन्थों का बड़ा-सा पुस्तकालय बना रखा था, जो छत के ऊपर एक टीन शेड के नीचे था। यहीं सुरेश क़ैदी की तरह रहते थे, ज़रूरी कामों के लिए रात के सन्नाटे में कुछ देर के लिए निकलते... यहाँ उन्होंने वेद, उपनिषद, महाभारत, आयुर्वेद और चरक संहिता, कुछ पुराण... जो भी उपलब्ध था पढ़ते रहे... अपने कॉलेज के पुस्तकालय में उन्होंने साहित्य रस में डूबकर अंग्रेज़ी नाटक, उपन्यास, निबन्ध, कहानियाँ, कविताएँ, दर्शनशास्त्र, राजनीतिशास्त्र भी पढ़ा। उन्होंने अपने एक मित्र के घर में उपलब्ध फ्रॉयड, बाल्ज़ाक और सार्त्र की पुस्तकें भी पढ़ डालीं...

दो साल बाद जब इण्टर की परीक्षा हुई, तो ये प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। फ़ार्म भरते समय ही प्राचार्य को इस छात्र की असलियत पता चली तो उन्होंने एक सच्चे देशभक्त के रूप में उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियों का समर्थन किया। परीक्षा परिणाम आने पर उन्हें प्यार और सम्मान दिया, उनका फ़ार्म में हाई स्कूल का नाम जयनारायण ही अंकित हुआ था, और अब इण्टर का प्रमाण पत्र भी उन्हें इसी नाम से मिल गया। 'सुरेश' तो कम्युनिस्ट पार्टी का दिया हुआ नाम था, जो प्रचलित हुआ, तो होता गया...

1943–47, पाँचवाँ दशक

1943-44, युद्ध ने अपने गिद्ध रूपी पंजे दूर-दूर तक फैला दिये। शस्य श्यामला माँ धरती से अनाज रूपी सोना उगाहने वाले हज़ारों-लाखों जन अकाल और महामारी द्वारा निगले जाने लगे।

विदेशी शासकों द्वारा शोषण और दमन का शिकंजा जितना तेज़ होता गया, मेहनतकशों के विरोध और संघर्ष उतनी ही तेज़तर लहरों में बदलते गये।

1945-46 बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद, शोलापुर, जमशेदपुर और कानपुर में मज़दूरों की लम्बी-लम्बी हड़तालें शुरू हो गयीं – लाखों कल-कारखाने ठप, डाककर्मियों की वृहत् हड़ताल, पार्टी समर्थित हज़ारों छात्र स्कूल-कॉलेज बन्द कर सड़कों पर उतर आये – अठारह जहाज़ों के नाविक, विद्रोह की राह पर... मज़दूर जहाज़ी हाथों में लाल, हरा, तिरंगा झण्डा एक साथ लहराते समुद्री लहरों के समान कम्युनिस्ट, लीग और कांग्रेस की एकजुटता की मिसाल पेश करते। अब विदेशी गुलामी-उच्छेदन के नारे लगाते चल पड़े, तो फिरंगी काँप उठे... यह चिनगारी है, कहीं शोला न बन जाये... अंग्रेज़ सत्ता को चुनौती...। तब अहिंसा की आड़ में अंग्रेज़परस्त नेताओं ने आगे बढ़कर अनुशासन के नाम पर मज़दूर संघर्ष विरोधी दर्जनों व्याख्यान दिये, सत्ता के प्रति अपनी वफ़ादारी दिखायी... पर एकता की शक्ति से भयाक्रान्त बौखलायी सरकार ने दमन नीति अपनायी। लाठी, गोली, बर्खास्तगी, सज़ा-ए-मौत, मज़दूर बस्तियों में पुलिस की बर्बरता, तबाही बढ़ती ही गयी।

शोषक अंग्रेज़ सरकार ने अन्ततः अन्तिम हथियार – एकता तोड़ो, फूट डालो, राज करो नीति का कार्यान्वयन शुरू कर दिया। मज़दूर वर्ग की जुझारू शक्ति और मध्यम वर्गीय व्यापक होती एकता से घबराये शासकों ने देश को दो टुकड़ों में बाँटकर तोड़ दिया... हिन्दुस्तान-पाकिस्तान... मानो व्यंग्यभरी मुस्कुराहट में कह रहे हों – अब एक होकर दिखाओ – मरभुक्खे, वहशी गुलाम, काले हिन्दुस्तानी शासन सत्ता तुम्हारी कभी नहीं... असली सत्ता हमारे ही पास रहेगी... राज हमीं करेंगे।

हिन्दुस्तान को आज़ादी

कानपुर मज़दूर आन्दोलन का केन्द्र-बिन्दु था। नौजवान लड़के-लड़कियाँ कम्युनिज़्म के विचारों की ओर आकर्षित थे। मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी से लेकर सामान्य लेखक तक जुड़ते जा रहे थे।

कानपुर के लगभग सभी स्कूल-कॉलेजों में छात्र फ़ेडरेशन की शाखाएँ बन रही थीं – एक सशक्त संगठन, मेधावी, पढ़ाकू, जुझारू, समर्पित छात्र... कानपुर को 'लाल कानपुर' बनाने की दिशा में चल पड़े, उधर...

* * *

देश के विभाजन के फलस्वरूप हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के खून के प्यासे हो गये। रोज़ का प्यारा हमदर्द पड़ोसी, खूँख़ार दुश्मन बन बैठा...

पार्टी के इन छात्रों ने आपसी क़ौमों की भयानक नफ़रत देखी... एक-दूसरे की माँ, बहन, बेटियों का अपहरण, बलात्कार, नृशंस हत्याएँ – मामूली बातें हो गयीं। संवेदनाएँ मर गयीं। पंजाब से दिल्ली, उत्तर प्रदेश (हिन्दुस्तान) आने वाली और दिल्ली या अमृतसर से लाहौर-कराची (पाकिस्तान) जाने वाली ट्रेनों का एक भी यात्री गन्तव्य स्थानों पर ज़िन्दा न उतर सका... हर बोगी में लाशें ही लाशें... करोड़ों के ज़ेवर, कपड़े, बर्तन, नक़दी की लूटपाट; ज़मीनों-मकानों पर जबरन क़ब्ज़ा...

साम्राज्यवादी शातिर शासक-ख़ूँरेज़ी, तबाही का ठीकरा अक्षम गुलामों के सिर फोड़ने से बाज़ न आये।

अन्तरराष्ट्रीय स्थिति ब्रिटेन के प्रतिकूल हो रही थी। अधिक समय तक भारत को गुलाम बनाकर नहीं रख सकते थे – हिन्दुस्तान को आज़ाद करना होगा... 200 वर्षों तक मुट्ठी में बन्द इस सोने की चिड़िया को कैसे उड़ जाने दें?... तो? तो अहिंसा के छद्म अनुयायियों को सत्ता का हस्तान्तरण तय... बर्तानवी पूँजी के हितों की सुरक्षा की गारण्टी... और अनायास 15 अगस्त 1947 को रात 12 बजे अपने फ़रमाबरदार नेताओं, अंग्रेज़परस्त राजे-रजवाड़ों,

अत्याचारी ज़मींदारों, लुटेरे जागीरदारों, तानाशाह ताल्लुकेदारों को जनप्रतिनिधित्व का अधिकार देकर विश्व के सम्मुख घोषणा कर दी गयी – 'दे दी आज़ादी बिना खड्ग बिना ढाल।'

कांग्रेस के युवा नेता, गाँधी के चहेते वारिस पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने स्वाधीन भारत के प्रतीक (चिह्न) स्वरूप तिरंगा झण्डा दिल्ली के लाल क़िले पर फ़हरा दिया। वे भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री हुए। इस तथाकथित आज़ादी के बाद ही महात्मा गाँधी दरकिनार कर दिये गये, और छह महीने भी न बीते कि एक कट्टर हिन्दू नाथूराम गोडसे ने उन्हें गोलियों से मार डाला। अहिंसक की हिंसा... विश्व स्तब्ध रह गया...

आज़ाद सरकार और भारत की कम्युनिस्ट पार्टी

ब्रिटिश साम्राज्यवादी, भारत में अपने कूटनीतिक पत्ते बिछाने में सफल रहे। दुनिया देख ले, हमने तो साबरमती के सन्त के सत्य और अहिंसा का सम्मान किया, रक्षा की; परन्तु उनके अपने ही लोगों ने जड़ से उखाड़ फेंकने का काम शुरू कर दिया है।

देश-विभाजन के कारण पीड़ित जन करोड़ों की संख्या में हिन्दुस्तान से पाकिस्तान जाने के लिए मजबूर और पाकिस्तान से हिन्दुस्तान आकर देशभर में फैल गये... व्याकुल, बदहाल, बेरोज़गारी के शिकार, घरबार-विहीन महँगाई-सुरसा का सामना करते त्रस्त जनमानस आँखों में आँसू का दरिया लिये बार-बार पूछते – यह कैसी आज़ादी? कौन आज़ाद हुआ? किस बात का जश्न मनायें?

तबाही के इस मंजर के दौरान – तब अकेले कानपुर में ही पार्टी निर्दिष्ट बीसियों छात्र-टोलियाँ निकल पड़ीं... ये लड़के-लड़कियाँ जान हथेली पर रख दंगाई इलाक़ों में पहुँचते, वहाँ फँसे लोगों को सुरक्षित स्थानों में पहुँचाते, झुलसे, जले या ज़ख़्मी जनों के प्राथमिक उपचार करते। बिछुड़े/खोये हुए बच्चों, औरतों, बुज़ुर्गों को अपने बनाये शिविरों में पहुँचाते। जगह-जगह से चन्दा/सहायता/सहयोग द्वारा भोजन का प्रबन्ध कर लोगों तक पहुँचाते। अनेक प्रतिभाशाली छात्रों ने अपनी पढ़ाई स्थगित कर दी। कुछ व्यक्तिगत भावी जीवन की चिन्ता छोड़ पार्टी होलटाइमर बन गये। व्यापक संवेदना से भरे छात्र समूह जनसुरक्षा को अंजाम देने के लिए अपना खाना-पीना, घरबार, रात-दिन, आराम – सभी कुछ जैसे भूल गये...।

जिसे सत्ता सौंपी गयी, जिस सरकार को व्यापक जनसुरक्षा की ज़िम्मेदारी उठानी चाहिए थी, वह कहाँ है? क्या कर रही है? पता नहीं... छात्र दुखी, जिज्ञासुओं को क्या जवाब दें?

भारत की कम्युनिस्ट पार्टी और छात्र

कानपुर में छात्रों का संगठन – छात्र फ़ेडरेशन – सशक्त, सक्रिय, आमजन के प्रति समर्पित...

आनन्द माधव त्रिवेदी, महादेव प्रसाद खेतान, सी.एम. सादरी, सुलतान नियाज़ी, इक़बाल नियाज़ी, सुरेश पाण्डेय, रामआसरे, ठाकुरदास वैद्य, मुनिस रज़ा, मो. शरीफ़, नन्द कुमार, सुशील द्विवेदी, हरवंश, हबीबा बानो, नसीम, नफ़ीस, अतिया, गीता, मोहिनी आदि समर्पित प्रतिबद्ध कार्यकर्ता थे।

इन सबों ने कानपुर में कम्युनिस्ट पार्टी की नीति और विचारों को बहस-मुबाहसा, सेमिनारों, भाषणों, पत्रों, पैम्फ़्लेटों, बैठकों आदि द्वारा लोगों तक पहुँचाने की चेष्टा की।

ये छात्र मज़दूर बस्तियों में, छोटे-बड़े दुकानदारों तथा मध्यवर्ग के घरों तक पहुँच बनाकर उन्हें पार्टी के विचारों से अवगत कराते, अख़बार बेचते और सदस्य बनाने व चन्दा एकत्र करने की पेशकश करते।

इप्टा (इण्डियन पीपुल्स थियेटर एसोसियेशन) की कानपुर इकाई ने सांस्कृतिक आयोजनों द्वारा मज़दूरों, बुद्धिजीवियों और मध्यवर्ग को भी आकृष्ट किया। छात्रों की कुछ टोलियाँ किसान सभा के माध्यम से कानपुर के देहात क्षेत्रों में भी पहुँचती रहतीं।

छात्रों की सांस्कृतिक टोलियों ने कवि सम्मेलन, मुशायरा, गीत, सामूहिक गान, नुक्कड़ नाटक, एकांकी एवं कलात्मक प्रहसनों द्वारा जन जागरूकता अभियान चलाये। स्कूल, पार्क, किसी खुले छोटे से स्थान पर भी मदारी के तमाशे के समान बिना किसी साधन या तामझाम के भी ये समाँ बाँध देते... युवा कवि 'शील' के 'देश हमारा, धरती अपनी हम धरती के लाल, नया संसार बसायेंगे, नया इतिहास बनायेंगे' जैसी अनेक प्रेरक, ओजपूर्ण कविताएँ; श्यामसुन्दर 'राजा' की – 'आँधियाँ चलीं, मौत की लाश पर ज़िन्दगी की अमर ज्योति जलती रही...'

कृष्ण कुमार त्रिवेदी 'कोमल' भी – 'ओ नभ के श्वेताभ बादलो, तुम्हें शपथ है अब मत बरसो।' आदि कविताएँ जनमानस पर गहराई से छा गयीं...

इन गतिविधियों ने सत्ता में बैठे काले अंग्रेज़ों का ध्यान अपनी ओर खींचा और शिद्दत से छात्र फ़ेडरेशन के युवा छात्र उनके ख़ास निशाने पर आ गये...

जेल जीवन

1948, फ़रवरी का महीना – तथाकथित आज़ाद सरकार की पुलिस, मलिन कॉलोनियों के ग़रीबों को हड़काती। मज़दूर बस्तियों में रात-बिरात अपराधों का जायज़ा लेने जाती। पार्टी नेताओं के रिश्तेदारों के घर जब-तब दस्तक देती। उनसे तरह-तरह की पूछताछ करती। अकारण ही झूठे आरोपों में फँसाना चाहती। गिरफ़्त में न आने वालों को धमकियाँ देकर लौट जाती – छात्र परिवार के एक-एक जन की जासूसी होने लगी।

और एक दिन जब सुरेश और खेतान घर आ रहे थे, उन्हें रास्ते में ही गिरफ़्तार कर लिया गया... दोनों को बिना कारण बताये, बिना चार्जशीट बनाये सीधे जेल में ठूँस दिया गया – पूँजीपतियों की दमनकारी सरकार – कहीं कोई सुनवायी नहीं – घर में तहलका-सा मच गया। सक्षम बड़ा बेटा – जब घर सँभालने का समय आया तो जेल में... माँ, बहनें, छोटे भाई, मुहल्लेवाले, नातेदार सभी अपने-अपने ढंग से टिप्पणी करते, कुछ पार्टी की बुराई करते, अन्य सुरेश की पार्टी-संलिप्तता को सबसे बड़ा दोषी बताने लगे...

नयी बहू, अभी-अभी तो गौने में आयी और पति जेल में... लोगों का ख़याल था, मुझे सदमा लगेगा; मैं रोने, गिड़गिड़ाने और असहाय स्थिति को कोसने न लगूँ, अत: उन्होंने छद्म सहानुभूति प्रकट की...

परन्तु मुझे इसमें कुछ भी अनहोना न लगा – मुझे गर्व हुआ, क्रान्तिकारियों के लिए जेल तो दूसरा घर है... मैंने मुस्कुराकर कहा – "यह तो देश का काम है, मैं हूँ न घर सँभालने के लिए..."

पर मेरा यह कथन संकट ही संकट लेकर आया... लोग भौंचक! कुछ ने समझा – 'मैं गहरे सदमे की शिकार हूँ', कुछ ने कहा – 'चरित्रहीन है, स्वतन्त्रता मिल गयी', कुछ ने व्यंग्य किया – 'अच्छा, तो यह हमारे लाला की बराबरी करेंगी... शकल तो देखो,' – अकेली अम्मा धैर्यवान और संयमी बनी रहीं...

अब मेरे ऊपर घर की सार-सँभाल, और आर्थिक दयनीय हालत को सुधारने का भार बहुत बढ़ गया। अपनी पढ़ाई, पार्टटाइम स्कूली शिक्षण-कार्य, एक-दो ट्यूशनें...

लड़के पढ़ रहे थे, बढ़ रहे थे, उनकी कापी-किताबें, जूते-कपड़े, स्कूली फ़ीस, घर का राशन – ख़र्चे ही ख़र्चे... एक-एक पैसा बचाती जहाँ भी जाना होता, कितना भी चलना पड़े पैदल जाती, अपने ऊपर एक भी पैसा ख़र्च न करती। देर रात तक चीज़ों की व्यवस्था, अपेक्षित टूट-फूट की मरम्मत करती रहती।

मैंने अपने बॉक्स की चाभी अम्मा को सौंप दी थी। मेरे ज़ेवर, कपड़े, फ़ीस के रुपये आदि उसी में रहते थे... किशोर वय, घर में घोर ग़रीबी, पड़ोसी लड़कों को खाते-पीते देख ललचाते... सोचते घर में गहने और रुपये रखे तो हैं, हम उनको अपने ऊपर क्यों नहीं ख़र्च कर सकते... कुप्रवृत्तियाँ हावी होने लगीं, अम्मा को धोखा देना अब वे बुरा न समझते... पड़ोस में सुनारी का काम होता था, मिट्टी के मोल खरा सोना मिल जाये, तो क्या कहना? सुरेश के दोनों छोटे भाइयों ने मेरे सारे रुपये और अधिकांश गहने चोरी से बेचकर उड़ा डाले... रुपये मेरे स्कूली बच्चों की फ़ीस के थे, ट्यूशन से प्राप्त, कुछ अपने जोड़े... जब फ़ीस जमा करने की तिथि पर देखा तो सकते में आ गयी – अम्मा ने जाना, पर वे असमर्थ हो गयीं... स्कूल में अपमानजनक स्थिति, गबन का आरोप... क्या करूँ? लगातार तीन महीने अपनी तनख़्वाह से अदायगी का लिखित माफ़ीनामा देने पर नौकरी बची...

मैंने किसी से कुछ न कहा, अपने समृद्ध पिता के घर भी न गयी, न किसी प्रकार की शिकायत की – क्योंकि संघर्ष ही तो मेरा चुनाव था – अब वही मेरा जीवन है – जैसे भी हो घर चलाना है... तरह-तरह की अफ़वाहें, लोग कुछ भी कहें – यथार्थ यह था कि मुझे घर से बाहर तो जाना ही पड़ेगा... एक-दो बार मैं ट्यूशन पढ़ाने, या चुपचाप पार्टी की गतिविधि जानने हेतु सुलतान नियाज़ी (सुलतान, मजिस्ट्रेट के लड़के स्वयं जेल में थे, पर उनकी बहनों से कुछ जानकारी हो सकती थी) के घर गयी, तो अम्मा या बच्चा को साथ ले गयी, लेकिन पता लगा कि वे लोग भी पुलिस निशाने पर आ गये... जब मैं कहीं जाती तो पीछा किया जाता; एक-दो हट्टे-कट्टे जासूस कभी आगे, कभी पीछे चलते रहते...

समाज में स्त्री को हत्प्रभ करने का अति सरल और सबसे बड़ा हथियार है चरित्रहनन... पर मैंने परवाह न की, चलती रही अकेले ही चुपचाप, सोचा जो भी हो, देखा जायेगा – पर घबराहट और तरह-तरह की शंका-चिन्ताओं से

पसीना-पसीना हो जाती... स्थिति किसी को बता न सकती थी... दद्दा की बहुत याद आती, पर वे कहाँ भूमिगत हो गये, कभी मिले ही नहीं... घुटन, घुटन और घुटन...

मेरी पार्टी के प्रति अन्ध आस्था थी। जब भी जैसे भी मौक़ा लगता, मैं सम्पर्क बनाये रखने के लिए प्रयत्नशील रहती, कहीं कोई पर्चे या पैम्फ़्लेट बाँटने हों, तो वह ज़िम्मेदारी उठा लेती, परिचित जगहों पर अख़बार पहुँचा देती... न जाने कितना पैदल चलना पड़ता, पर लगता ज़रा भी थकान नहीं है...

इस समय पार्टी बी.टी.आर. की 'सख़्त अतिवादी नीति' पर चल रही थी, इसलिए आदेश था – दमन का मुक़ाबला डटकर किया जाये, जेल में भी। किसी प्रकार की ढीली-पोली समझौतापरस्त गतिविधियाँ अनुशासनहीनता की श्रेणी में आँकी जातीं।

एक साल होने को आया, पता ही न चल पाया कि सुरेश, खेतान आदि पर क्या चार्जशीट लगायी गयी, कौन-सी धाराओं के तहत उन्हें बन्दी बनाया गया है... सभी बन्दी परिवारों के सामूहिक प्रयास से येन केन प्रकारेण हैबियस कार्पस मूव किया गया... तब बताया गया कि 'शस्त्र अधिनियम' की किसी धारा के तहत बन्दी बनाये गये हैं... सुरेश से मिलायी हुई तो पता चला, दाढ़ी-मूँछ बनाने वाला ब्लेड जो भोथरा हो जाने पर पेंसिल बनाने, काग़ज़ सीधा काटने के काम में आता, सुरेश की जेब में था... पुलिस की नज़र में यह भयानक हथियार था... शासन के लिए यह हास्यास्पद न होकर गम्भीर मामला था।

शासक वर्ग के दमनकारी रवैये से जेल जीवन नरक बना दिया गया। बात-बेबात पिटाई होती, पक्के क़ैदियों द्वारा तलुवों और कमर में पहुँचायी गयी अदृश्य चोटें व्यक्ति को जीवनभर के लिए लुंज-पुंज बना देतीं – ख़राब खाना, तनहाई, न पढ़ने-लिखने की कोई सुविधा, न ही आसानी से मिलायी हो पाती... जेल में भी इन युवाओं ने अनुशासित सिपाही की ही तरह संघर्ष और विरोध का रास्ता अपनाये रखा...

बन्दी छात्र तरह-तरह के अमानुषिक उत्पीड़नों का सामूहिक विरोध करते... विरोध को तेज़ और प्रभावी बनाने के लिए इन्होंने 'लॉकअप' में न जाने का फ़ैसला लिया... अच्छा जेल में भी ये तेवर... फिर क्या था ख़ूँखार जेल मशीनरी हवाई फ़ायर और कठोर लाठीचार्ज पर पिल पड़ी... मुक़ाबले में छात्र भी डट गये, चदरों में लोटे बाँधकर गदा की तरह प्रयोग किया, जिसको जो वस्तु मिली, उसी को ढाल/हथियार के रूप में प्रयोग किया – लेकिन कब तक?

सात तालों के अन्दर बन्द निहत्थे छात्र-बन्दी – उधर सशस्त्र पुलिस बटालियन की ज़बरदस्त घेरेबन्दी...

इस लड़ाई में दर्जनों छात्रों के सिर फट गये। सुरेश का सिर फटा, कमर की हड्डी में गहरी चोट आयी, खेतान की तीन उँगलियाँ टूट गयीं, कुछ की आँखें चोटिल हो गयीं, दाँत टूटे, पैर की हड्डियाँ भी...

परन्तु बाहर इस दमन की ख़बर को साधारण झड़प कहकर शासन अपनी हिटलरी विजय पर मुस्कुरा उठा।

इतने के बावजूद न शासन की ज़्यादतियाँ कम हुईं, न छात्रों के हौसले टूटे... कुछ दिन बाद विरोध-स्वरूप भूख हड़ताल का फ़ैसला किया गया... सुरेश और खेतान ने इस प्रकार की पार्टी लाइन को 'अतिवादी' बताते हुए भी सामूहिक फ़ैसले को मान लिया। कुछ लोगों ने दो-तीन दिन बाद ही डॉक्टर की ज़बरदस्ती के सामने अपना इरादा बदल दिया, धीरे-धीरे डॉक्टरी ज़्यादती से बेदम हो साथी एक-एक कर टूटने लगे... खेतान ने दस दिन तक ज़बरदस्ती का मुक़ाबला किया, लेकिन उनकी माँ जब खाना लेकर आयीं और रोने लगीं, तो खेतान ने माँ के हाथ से खाना खाकर हड़ताल तोड़ दी... सुरेश को उनका दोस्त मानकर पार्टी को इस अनुशासनहीनता की बढ़ा-चढ़ाकर ख़बर दी गयी...

सुरेश और खेतान ने पार्टी की इस लाइन को अतिवादी लाइन बताते हुए अपना मत व्यक्त किया, पार्टी ने दोनों को इस स्थिति के लिए दोषी माना, और कठोर सज़ा के तौर पर पार्टी से निकाल दिया।

वास्तविकता यह थी कि पार्टी की जासूसी करने के लिए एक व्यक्ति छात्र के रूप में क़ैद होकर जेल पहुँच गया। वह एक ओर जेल अधिकारियों से मिलकर सशक्त साथियों, आन्दोलन एवं अन्दर की सारी गतिविधियों की उन्हें सूचना देता, दूसरी ओर पार्टी को गुप्त पत्र भेजकर गुमराह किया करता। उसने इन साथियों को 'इनफ़ॉर्मर' बताया। यह घातक बात थी। पार्टी सेक्रेटरी रामआसरे थे, उन्होंने तुरन्त इनके ख़िलाफ़ कठोर फ़ैसला ले लिया...

जेल के अन्य साथियों के लिए ये अछूत हो गये... मीटिंगें करते, पर इन्हें सूचित न करते, पास से निकल जाते, संवादहीन – सब प्रकार से उपेक्षा...

अम्मा की अस्वस्थता के आधार पर दोनों को एक हफ़्ते के लिए 'पेरोल' पर छोड़ा गया... सब ओर से टूटे, दुखी, पर ऐसी मनस्थिति में भी बी.ए. के अधूरे कोर्स को पूरा करने के लिए आगरा यूनिवर्सिटी से प्राइवेट फ़ार्म भर दिया।

1950 शुरू हो गया, जाड़े के दिन, इम्तहान के लिए बहुत कम समय

बचा था, तभी पूरी तरह रिहा होकर घर आये। खेतान अपने घरवालों – ख़ासकर पिता की कटूक्तियों से ऊबकर हमारे ही घर में रहने लगे...

दो कमरों का छोटा-सा घर, यहाँ उन्होंने स्वयं को क़ैद कर लिया... बाहरी छोटे कमरे में दोनों बिस्तर लगाकर ज़मीन पर ही लेट-बैठकर पढ़ते रहते... मैंने देखा – खेतान सुरेश की गोद में सिर रखकर लेटे रहते और सुरेश उन्हें ज़ोर-ज़ोर से पढ़कर सुनाया करते। ग़रीबी के बावजूद घर का क़ैदख़ाना इतना दुखदायी न था। ऊब जाते तो आपस में मुक्केबाज़ी कर लेते, मुझे और अम्मा को छेड़ते, बतियाते... अन्ततः परीक्षा दी और पास हो गये।

ठाकुरदास, पार्टी और मैं

जालौन (कोंच) निवासी ठाकुरदास वैद्य इण्टर के आगे पढ़ाई के लिए कानपुर आये। छात्र फ़ेडरेशन से जुड़े। पार्टी के छात्र-विंग में सक्रिय कार्यकर्ता।

कानपुर, एक छोटी-सी चिनगारी से ही हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों की आग में धू-धूकर जल उठता – यह महान औद्योगिक शहर 'पूरब का मैनचेस्टर' कहलाता था।

विदेशी शासकों को सत्ता के लिए सौहार्द नहीं, फूट वांछित थी – कम्युनिस्ट पार्टी गुलामी से मुक्ति-संग्राम की ईमानदार पक्षधर, एकता की समर्थक – क़ौम, प्रदेश और देश से भी बढ़कर उसका लक्ष्य, उसका नारा था – 'दुनिया के मज़दूरो एक हो'।

शिव शर्मा, हमारे 'दद्दा' मज़दूरों के संगठनकर्ता, नेता, कम्युनिस्ट पार्टी के सक्रिय सदस्य थे। वे मेरे अभिभावक और संरक्षक थे।

दंगों के कारण बार-बार पढ़ाई बन्द करनी पड़ती – मैं जैसे-तैसे कक्षा चार-पाँच तक पहुँच पायी कि स्कूली पढ़ाई ठप – दद्दा ने मुझे और मेरी बड़ी बहन को घर पर ही पढ़ाने का निश्चय किया।

ठाकुरदास दद्दा के साथ घर आये। पढ़ने-पढ़ाने में होशियार, लगनशील, सौम्य, शिष्ट, चरित्रवान...

व्यवहार-कुशल, मिलनसार ठाकुरदास वैद्य हमारे हितैषी और संरक्षक थे। अम्मा, बापू, बहन और मेरे भी वे चहेते बन गये – वे हमारे ठाकुर भैया थे।

मेरे लिए भैया प्यार, आदर और भय के पात्र थे। कठिन समय में मददगार, पथप्रदर्शक, ग़लती करने पर चपतिया सकते थे, मज़ाक़ उड़ाकर, डाँटकर, फिर प्यार करके समझा देते। उनके ज्ञान का मुझ पर आतंक-सा था।

मुझे लगता मैं कुछ नहीं जानती, तर्क नहीं कर पाती, जानकारी के अभाव में उचित उत्तर नहीं दे पाती – अतः हर बात के लिए उन पर निर्भर होती, और उनका कहना मानती। मुझे लगता, मेरे विकास के लिए ठाकुरदास पर निर्भरता ही एकमात्र रास्ता है। वे कठिन से कठिन समस्या को मिनटों में

सुलझा देते, मैं ताज्जुब में भर जाती, पर वे मुझे बुद्धू और आलसी कहकर हँस देते। अतः मैं उनकी ग़लत बात का भी प्रायः मारे भय के विरोध न कर पाती।

ठाकुर भैया की शादी हो चुकी थी, भाभी गाँव में रहती थीं। सुशीला भाभी झाँसी की लड़की थीं, थोड़ा-बहुत पढ़ी थीं, और देश की दशा तथा वर्तमान परिस्थितियों से अनभिज्ञ न थीं।

सुरेश के साथ जब मेरी शादी की बात चली, तो उन्होंने छोटी बहन के अभिभावक के रूप में मदद की।

शादी से पहले वर पक्ष की ओर से खेतान आये, और मेरे हाथों में सोने के कंगन पहनाकर पसन्दगी की स्वीकृत दी।

ठाकुर भैया मुझे और सुरेश (छोटी बहन और बहनोई) को लेकर जालौन पहुँचे। घर में ओई (ठाकुरदास की माँ) से लेकर छोटे बच्चों तक में उत्साह की लहर-सी दौड़ गयी। पहली बार आये लड़की-दामाद, बुआ-फूफा का भव्य स्वागत किया। एक हफ़्ते तक रुकना ज़रूरी हो गया। बिदाई के समय मिठाई, पकवानों के अलावा 'कोंछा' व 'टीका' रस्म के साथ 'ब्याहुली बिटिया' को अनेक उपहार देकर विदा किया गया।

पार्टी स्तर पर भी सुरेश, खेतान, रामआसरे और ठाकुरदास वैद्य एक-दूसरे से जुड़े थे। समरस थे।

बी.टी.आर. पीरियड, पार्टी में कठोरतम अनुशासन का काल – व्यक्तिगत असहमति या अभिव्यक्ति का कोई स्थान नहीं...

सुरेश मेरी तरह अन्धभक्त न थे। वे पठित थे, तार्किक थे और विवेचना के आधार पर व्यक्तिगत राय रखने में सक्षम भी...

सन् '48 शुरू ही हुआ था कि व्यापक छात्र गिरफ़्तारियाँ हुईं। छात्र फ़ेडरेशन के प्रभावशाली क़दम, सद्यः प्राप्त आज़ादी को 'झूठी' कहकर मज़दूरों, किसानों, छात्रों और मध्यम वर्ग को भी लामबन्द कर रहे थे। सतर्क शासनतन्त्र को यह कैसे रास आता –

पार्टी का आदेश था – कामरेड सलाख़ों के पीछे भी शासनतन्त्र से मुक़ाबले की जंग जारी रखें।

शासनतन्त्र का दमनकारी रवैया... जेल जीवन नरक बन गया था। बेइन्तहा मानसिक और शारीरिक कष्ट सहकर भी इन युवाओं ने संघर्ष और विरोध का रास्ता अपनाये रखा... जेल के अन्दर जो भी वस्तु मिली, उसी को छात्रों ने हथियार की तरह प्रयुक्त कर लाठीचार्ज का मुक़ाबला किया।

इस सत्ता-संघर्ष में सुरेश का भी सिर फटा, कमर की हड्डी में गहरी

चोटें आयीं, खेतान की तीन उँगलियाँ टूट गयीं, कुछ की आँखें चोटिल हो गयीं, दाँत टूटे, पैर की हड्डियाँ भी... सात तालों में बन्द बन्दी पुलिस की सशस्त्र घेरेबन्दी का मुक़ाबला कब तक कर सकते हैं? आख़िर कब तक...?

सुरेश और खेतान ने इसे पार्टी की अतिवादी लाइन क़रार दिया तथा भूख-हड़ताल में एक हफ़्ते तक भागीदारी करने के बाद भूख-हड़ताल तोड़ दी... यह अनुशासनहीनता थी। साथ ही इनफ़ॉर्मर होने का झूठा आरोप भी मढ़कर पार्टी को गुमराह किया गया। तब ज़िला मन्त्री रामआसरे थे, और ठाकुरदास उनके दाहिने हाथ – उन्होंने सुरेश और खेतान को कठोर सज़ा के तहत पार्टी से अविलम्ब निकाल बाहर किया।

न डिस्कशन, न सफ़ाई का मौक़ा, झूठे आरोप। रामआसरे और ठाकुरदास दोनों गहरे मित्रों ने, जो हमारी ज़िन्दगी के संघर्ष और सोच से भली-भाँति परिचित थे, अनुशासन तोड़क के साथ ही उन्हें मुख़बिर घोषित कर दिया...?

सुरेश और खेतान दोनों को गहरा सदमा लगा... वे टूट से गये... निराशा और मानसिक उद्वेलन... जेल में साथियों के व्यवहार से उपेक्षित और अपमानित अनुभव करते... लगभग दो साल बाद जेल से रिहा हुए, घर आये। यहाँ देखा अस्वस्थ माँ, दयनीय आर्थिक हालत, अपराधोन्मुख छोटे भाई, प्रकाश की कोई किरण नहीं...

ऐसी परिस्थिति में एक दिन ठाकुरदास वैद्य मेरे पास आये और मुझसे कहा – "सुरेश को छोड़ दो, और स्वतन्त्र होकर पार्टी का काम करो।" मैं ऊपर से नीचे तक सन्न होकर उन्हें देखती रह गयी – यह कैसा प्रस्ताव? ज़िन्दगी को, परिवार को अकारण तोड़ डालना। इस दौरान सुरेश किसी से भी मिलना-बोलना पसन्द न करते, पार्टी की तो घोर उपेक्षा – अतः जो भी साथी आता, मुझे ही उससे मिलना पड़ता।

सुरेश के जेल चले जाने पर मैंने छोटे-मोटे कामों के सहारे पार्टी से जीवन्त सम्पर्क बनाये रखा था... परन्तु स्वतन्त्र होकर पार्टी का काम करना – परिवार के प्रति सौंपी गयी ज़िम्मेदारी को बीच में छोड़ भाग खड़ा होना, दुखदायी अवस्था में प्यारे साथी के साथ विश्वासघात? व्यक्तिगत जीवन में सुरेश का सान्निध्य, उनका प्यार पाने की एक स्थायी चाहत बन गयी थी... जब दूसरी बार भी प्रस्ताव दोहराया गया, तो पहली बार ठाकुरदास के प्रति मन में जो सन्देह उपजा था, वह कुछ और मज़बूत हो गया। उनकी अपने प्रति नरमी और नज़दीकी में मुझे अरुचिकर भाव की गन्ध प्रतीत होने लगी...।

सुरेश से प्राप्त पत्र के आधार पर जब ज़िला कार्यकारिणी ने गहन पड़ताल

की, तो जासूसी और मुख़बिरी करने वाला एक अन्य व्यक्ति था, जो पार्टी के गुप्त दस्तावेज़ प्राप्त करने, छात्र आन्दोलन को तोड़ने और पार्टी को बिखराने पर जुटा हुआ था।

रामआसरे ने फ़ैसले पर पुनर्विचार किया, सुरेश की पार्टी सदस्यता बहाल की, और ठाकुरदास को सूचक के तौर पर घर भेजा।

* * *

पार्टी प्रतिबन्धित थी। ठाकुरदास सुशीला भाभी के साथ भूमिगत शिववर्मा के बेटी-दामाद बनकर रह रहे थे। ऊपर का कमरा मिला। मकान मालिक सरकारी वकील – ठाकुरदास कुछ गोपनीय मैटर टाइप कर रहे थे, इतने में किसी से मिलने नीचे गये। तभी मकान मालिक का छोटा लड़का खेल-खेल में वे कागज़ लेकर चला गया। लौटकर देखा, नदारद कागज़ मकान मालिक के हाथ में पहुँच गये थे... यह चिन्तनीय स्थिति थी...

ठाकुरदास उसी रात चुपचाप वर्मा जी और शीला भाभी को साथ लेकर प्रसव सम्बन्धी इमरजेंसी बताकर पटकापुर की एक गली में शिफ़्ट हो गये। मकान रामआसरे के घर के पास था।

कई महीनों बाद, एक दिन ठाकुरदास शीला भाभी से मिलाने घर ले गये। पहली बेटी प्यारी नन्ही-सी प्रीति एक कोने में लेटी सो रही थी। दोपहर का समय, कुछ देर बाद वे ठाकुर भैया के लिए थाली सजाकर ले आयीं, लेकिन पता नहीं क्या बात हुई, ठाकुरदास ने क्रोध में भरकर थाली उठाकर फेंक दी। कमरे में दाल, चावल, सब्ज़ी, दही फैल गये – मैं स्तब्ध। सहमी-सी भाभी ने नम आँखों कहा – "कुछ और खा लो," पर ठाकुरदास निकल गये। शीला ने असीम धैर्य और संयम का परिचय देते हुए तुरन्त कमरे को साफ़ कर दिया। इतने में सुरेश आ गये। उन्होंने चुपके से बह आये आँसुओं को पोंछ डाला, और चटपट दो कप चाय बना लायीं, सुरेश को कप पकड़ाकर मुझे भी दी, कहा – "कमला, पी लो" – मेरे कई बार कहने पर भी स्वयं चाय नहीं पी... प्रीति कुनमुना उठी थी, उसे उठाकर गोद में ले लिया, फिर करुण मुस्कान से मेरी ओर देखा और नज़रें झुका लीं... मुझे लगा समानता के सिद्धान्त को मानने वाले कम्युनिस्ट का ऐसा पुरुष वर्चस्ववादी रूप... स्त्री का अकारण इतना अपमान...

असल में ठाकुरदास का परिवार सामन्ती सोच वाला था। छोटे-बड़े कई भाई, अनेक एकड़ ज़मीन-जायदाद, कपड़े की दुकान, सबके नाम

अलग-अलग पट्टे और खाते... ठाकुरदास इन सबसे अलग थे। घर वालों की घोर उपेक्षा – खेती-बाड़ी की बजाय पढ़ाई काम्य थी, अतः घर छोड़कर कानपुर चले आये... यहाँ तरह-तरह की कठिनाइयाँ झेलते हुए भी पढ़ाई जारी रखी – छात्र फ़ेडरेशन, फिर सी.पी.आई. के सक्रिय कार्यकर्ता हो गये। पर पुरुषवादी पितृसत्तात्मक शोषक सोच से मुक्त न हो सके।

ठाकुरदास अच्छे वक्ता एवं संगठनकर्ता थे। उन्होंने 'कानपुर रिक्शा यूनियन' बनायी, सैकड़ों रिक्शेवाले उनकी एक आवाज़ पर इकट्ठा हो जाते। मेहतरों के बीच कभी कोई नहीं गया, उन्हें निम्नतम निकृष्ट जाति जो समझा जाता था। ठाकुरदास उनकी बस्तियों में गये, संगठित किया, हीनभाव छोड़ जुझारू तेवर अपनाने की सलाह दी, नेतृत्व किया।

रूस में ख्रुश्चेव के सत्तासीन होते ही पार्टी संशोधनवाद की ओर मुड़ गयी। भारत की पार्टी अप्रभावित कैसे रहती? संसदमार्गी विपथगमन ने रही-सही सारी कोर-कसर पूरी कर दी।

1956 में सहायक शिक्षकों और प्रधानाचार्यों की सेकेण्डरी टीचर्स यूनियन – दोनों का जब विलय हो गया, तो कानपुर में ठाकुरदास ने पूर्व नेतृत्व के हाथ से धीरे-धीरे माध्यमिक शिक्षकों का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। प्रगतिशील एवं वामपन्थी विचारोंवाला एक बड़ा ग्रुप कानपुर नगर एवं देहात से लेकर उन्नाव तक के लगभग हर ग़ैर-सरकारी माध्यमिक विद्यालय का नेतृत्व करने लगा... विशाल जनसंगठन के शीर्ष पर ठाकुरदास वैद्य थे।

शिक्षक-शिक्षिकाओं की बहुविध समस्याओं के समाधान हेतु सरकार और प्रबन्धतन्त्र दोनों से मोर्चा लेने के लिए बड़े डेलीगेशन ले जाते। प्रान्तीय कॉन्फ़्रेंसों में लाये जाने वाले नीतिपरक प्रस्ताव यथा – राष्ट्रीयकरण, समान कार्य के लिए समान वेतन, शिक्षा अधिनियम की धारा 21 के तहत शिक्षक नियुक्ति, प्रमोशन, निलम्बन, सेवा-सुरक्षा तथा छुट्टी आदि से सम्बन्धित अनेकानेक प्रस्तावों के मुख्य प्रस्तोता, वक्ता, लेखक तथा प्रेरक के रूप में वैद्य जी उभरकर आये।

ठाकुरदास शिक्षिकाओं की पसन्द बने। नयी-नयी उभरती शाखा सदस्याएँ मीटिंगों, सम्मेलनों, कॉन्फ़्रेंसों में जाने के बहाने इनसे मिलने-जुलने और सम्पर्क साधने लगीं, तो ठाकुरदास ने भी उन पर एकाधिपत्य स्थापित करने की चेष्टा की। ऐसे में इनके भक्त और सहयोगी मूलकृष्णा का वर्चस्व स्थापन प्रयास अहं तक पहुँचने लगा। फूट की नौबत तक आ गयी – वैद्य जी महिला नज़दीकी के कारण उपहास के पात्र भी बने...

विरोधी ग्रुप की प्रान्तीय महिला उपाध्यक्ष सलिला रघुवंशी तो अपने शोषक झगड़ालू पति को छोड़कर बोरिया-बिस्तर लिये वैद्य जी के घर जालौन पहुँच गयीं – वे वैद्य जी की दूसरी पत्नी बनने को भी तैयार थीं। इस लज्जाजनक स्थिति को सँभालने के लिए सी.पी.आई.एम. के साथियों – सुरेश, कोमल, खेतान आदि ने यह कहकर प्रतिरोध अभियान चला दिया कि विरोधी जनसंघी ग्रुप ने चरित्रहनन की दृष्टि से कुत्सित महिला का प्रयोग किया।

सी.पी.आई. कांग्रेस की नीतियों को प्रगतिशील मान उसकी समर्थक हो गयी थी, फलत: वैद्य जी भी कांग्रेस के नज़दीक होने लगे...

ठाकुरदास पार्टी लाइन या पार्टी शिक्षक सदस्यों को वरीयता देने की नीति को जनसंगठन की प्रगति में रोड़ा मानने लगे। वे सिद्धान्त और सामूहिकता की जगह व्यक्तिवाद और समझौतापरस्ती की राह पर डग बढ़ाने लगे... एम.एस.एस. के अन्दर सी.पी.आई. एवं सी.पी.आई.(एम.) की स्पष्ट सोच झलकने लगी... ओमप्रकाश तथा सत्ता-समर्थकों के ख़िलाफ़ एकजुटता टूटती गयी... कोमल, खेतान, सुरेश और ठकुराई अलग-थलग दिखायी देने लगे...

ठाकुरदास की सोच और रुझान दक्षिणपन्थी होती गयी... कांग्रेस-समर्थक यह साथी अब डांगेपन्थ का हिमायती हो... साम्राज्यवाद विरोधी के बजाय 'टेकनीक प्राप्ति' के नाम पर अमेरिका समर्थक हो गया... फिर किसी समय मार्ग दिखाने वाले हमारे भैया 'गायत्री समूह' के प्रमुख प्रवचनकर्ता हो गये...

अब वैद्य जी जालौन चले गये। वहाँ पहले पूर्व परिचय के बल पर स्कूल के प्राचार्य बने, फिर उसके प्रबन्धक बने। उनके पास डिग्री कॉलेज बनाने लायक सुविस्तृत ज़मीन आ गयी। वे घर पर अपने छोटे पुत्र के साथ रहने लगे, एक मेडिकल स्टोर खोलकर उसमें बैठने लगे, हाल में ही एक बड़ा-सा लॉज भी बनवा लिया है।

तीन लड़के और तीन लड़कियों को सक्षम, समृद्ध स्थिति में छोड़कर सुशीला भाभी ने कैंसर अस्पताल में अकेले ही अन्तिम साँस ली।

पता नहीं सुनी बात में कितना तथ्य है, पर बताया गया कि बीमारी की अवस्था में भी शीला भाभी घोर उपेक्षा की शिकार रहीं। वे परम स्वाभिमानी और सहिष्णु थीं, उन्होंने अस्पताल में एकाकी रहना पसन्द किया, न डॉक्टर लड़के को पास फटकने दिया, न पति ठाकुरदास को...

उन्होंने ठाकुरदास की अनेक चरित्र सम्बन्धी अक्षम्य कमजोरियों को भी न केवल नज़रअन्दाज़ किया, वरन् उजागर होने से रोका।

86 वर्ष की अवस्था में भी वे अब किसी क्रान्तिकारी वामपन्थी

(नक्सलवादी) पार्टी के कार्यकर्ता बनना चाहते हैं। मज़दूर अख़बार 'बिगुल' के नियमित पाठक हैं, और जब-तब पार्टी का वैचारिक साहित्य भी पढ़ते रहते हैं और स्टिक के सहारे चलते हैं। अभी भी उनकी सहायता करने की प्रवृत्ति में स्त्रियों के प्रति विशिष्ट रुचि रहती है... सलिला रघुवंशी, माया दीक्षित, सरला सक्सेना आदि के चर्चे लोग दबे-छिपे अब भी कर लेते हैं...

लगता है, मैं एक बार 'चित्रलेखा' और पढ़ूँ – देखूँ, हमारे भैया किस पात्र से मिलते-जुलते हैं?...।

यह आज़ादी झूठी है

वैचारिक रूप से पार्टी से जुड़े ये छात्र-दल प्रतिबद्ध एवं समर्पित भाव से अपना काम करते ही रहे। मज़दूर बस्तियों में पहुँचकर पार्टी अख़बार बेचते। निम्न वर्ग, ग़रीब मुसलमान बस्तियों में छोटी-छोटी मीटिंगें करते। उन्हें अख़बार पढ़कर सुनाते, तथ्यों से अवगत कराते, जागरूक करते। छात्रों की सांस्कृतिक टोली टीन को डण्डे से पीटकर भीड़ जमा कर लेती, सुलतान, नियाज़ी, ठाकुरदास, वैद्य, रामआसरे तथा सी.एम. सादरी उत्कृष्ट वक्ता थे। पहले छोटा-सा भाषण देते; फिर नुक्कड़ नाटक करते। 'मई दिवस' सोल्लास मनाते।

इन सतत कार्यक्रमों, प्रयासों का सटीक एवं अनुकूल प्रभाव पड़ा।

संवेदनशील छात्रों और जागरूक-मज़दूरों के जत्थे पार्टी के बैनर तले जुलूस बनाकर सड़कों पर उतर पड़े... शहर के भीड़ भरे इलाक़ों से छोटे-छोटे अनेक जूलूस नारे लगाते...

'यह आज़ादी झूठी है,
देश की जनता भूखी है।'
'पूँजीपतियों की सरकार,
नहीं चलेगी, नहीं चलेगी।।'
'सरमायेदारों की सरकार,
देखो कितनी है मक्कार।'
'रोज़ी, रोटी दे न सके जो,
वह सरकार निकम्मी है।
जो सरकार निकम्मी है,
वह सरकान बदलनी है।'
'हर ज़ोर-जुल्म की टक्कर में,
संघर्ष हमारा नारा है।'
'अभी तो यह अँगड़ाई है,
आगे और लड़ाई है।'

सरकार के नुमाइन्दे, उसकी उत्पीड़क मशीनरी को यह विद्रोह कैसे रास आता। क्रोध से अन्दर ही अन्दर फुँफकार उठे...

सरकार को चुनौती देने वाले ये सँपोले... इन्हें कुचल डालना बहुत ज़रूरी है।

... और अंग्रेज़ों की परम्परा पर चलने वाली छद्म आज़ाद सरकार के इशारे पर संवेदनहीन पुलिस ने लाठी प्रहार के बल पर कई जगह जुलूसों को तितर-बितर कर दिया...

परन्तु भीड़ के मुखों से आवाज़ें फिर भी सुनायी पड़ती रहीं –

'लाठी गोली की सरकार
नहीं चलेगी, नहीं चलेगी।'

और दफ़ा 144...

गाँधी हत्या को एक महीना भी न बीता था कि फ़ेडरेशन के छात्रों को ख़ास निशाना बनाया जाने लगा। तरह-तरह के झूठे आरोप, अकारण जुर्माना, प्रताड़ना एवं गिरफ़्तारियाँ शुरू कर दी गयीं। इन छात्रों के परिवारों पर भी शिकंजा कसा जाने लगा।

* * *

ऐसे ही माहौल में सुरेश और खेतान को रास्ते में ही गिरफ़्तार कर जेल भेज दिया गया... और महीनों बिना चार्जशीट के ही क़ैदख़ाने में झोंक दिया गया...

श्री नारायण तिवारी (बाबू जी) एवं अम्मा जी

जिस प्रकार ग्रीष्म की तपन और लू के थपेड़ों से बेहाल पन्थी घने वृक्ष की शीतल छाँह पाकर निहाल हो जाता है, उसी प्रकार हताश-दिग्भ्रमित सुरेश और मुझे अम्मा/बाबूजी का सान्निध्य पाकर लगा।

बाबूजी का घर अमीनाबाद में गूँगे नवाब के पार्क वाली गली के समीप था। उनकी पत्नी अम्मा जी अमीनाबाद चौराहे के एक कोने पर स्थित टोपी की दुकान पर बैठती थीं। बाबूलाल (वर्मा, पार्टी नाम), स्टालिन कमल और सुभद्रा की माँ सबकी अम्मा थीं।

उनका (दो मंज़िले पर) छोटे-बड़े कुल तीन कमरे का आँगन वाला घर क्या था मानो टैगोर का शान्ति निकेतन था, जहाँ भिन्न-भिन्न जातियों, धर्मों, मान्यताओं और सोच वाले जन साहित्य, संगीत, कला, दर्शन, धर्म, राजनीति, अतीत और वर्तमान पर मत-मतान्तर दर्शाते हुए सिद्धान्त और व्यवहार में माओ के इस कथन को चरितार्थ करते कि सौ फूलों को खिलने दो।

कानपुर से आकर इस प्रथम शरणगाह से बहुत कुछ सीखा – 'न दैन्यं, न पलायनम'। उत्साहित युयुत्सु की तरह परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए स्वमार्ग प्रशस्त किया। सुरेश ने एल.टी. की। डी.ए.वी. में शिक्षक बने। मैंने भी पढ़ाई शुरू की, छात्र संघर्षों में भागीदारी की और लखनऊ की इप्टा इकाई में भी सक्रिय रही...

श्री नारायण तिवारी, हम सबके बाबूजी, सुदर्शन नाक-नक्श, सफाचट मूँछें, छरहरा बदन, स्वच्छ कुरते-पैजामे पर सदरी पहने लगभग पचास वर्षीय एक प्रौढ़ पुरुष थे। उनका मुखमण्डल प्रदीप्त था, नज़रें पारखी और भाव-भंगिमा स्निग्धवत्सल, जो दर्शनमात्र से आगन्तुक को आशान्वित करती हुई-सी प्रतीत होतीं।

उनको देखने, सुनने और बात करने के लिए चतुर्दिक एक भीड़-सी जमा हो जाती... चुम्बकीय व्यक्तित्व...

मैंने देखा, बाबू जी स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य थे। उनका दृष्टिकोण स्पष्ट था – साम्प्रदायिकता, फ़ासीवाद के घोर विरोधी, कांग्रेस की पूँजीवादी समझौतापरस्त भ्रमात्मक नीतियों से असहमति तथा शोषण और दमन की मुख़ालफ़त करने, हर स्तर पर समानता के लिए संघर्ष करने तथा मेहनतकश वर्ग की सत्ता में व्यापक भागीदारी के लिए अगुवाई करने में उनका विश्वास था।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर भारत-रूस गहरे मित्र थे। सोवियत रूस हर क़दम पर भारत की आर्थिक, तकनीकी सहायता भी करता था। भारत-रूस सांस्कृतिक सामाजिक इकाई सक्रिय थी, जिसके तहत रादुगा प्रकाशन से प्रकाशित एवं प्रसारित सोवियत भूमि, सोवियत नारी, शिक्षा कला, दर्शन, साहित्य, कृषि व्यवस्था आदि सम्बन्धी ढेरों साहित्य सामग्री हिन्दी भाषा में छापकर भेजी जाती थी... तोल्स्तोय, गोर्की, चेख़व, निकोलाई दोस्तोयेवस्की आदि की रचनाओं के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ा।

अनेक डेलीगेशन रूस और भारत आये-गये। अनेक गोष्ठियाँ, सेमिनार भी आयोजित होते रहते। पार्टी नेताओं के पुत्रों, मित्रों और सम्बन्धियों की तत्सम्बन्धी आयोजनों और भोजों में विशेष रुचि होती। पार्टी नेताओं के बच्चों की पढ़ाई और सम्बन्धियों की साधारण-सी बीमारियों का ख़र्च भी रूस उठाता। पार्टी की समस्त गतिविधियों का रिमोट कण्टोल रूस के हाथ में... संशोधनवादी राजनीति का दैनन्दिन रूप बेहद कुरूप था। पार्टी नेतृत्व कुलीन तबक़ा बन चुका था। सोवियत संघ इसमें पूरा मददगार था। निष्कासन कार्यकर्ता दिग्भ्रमित, क्षुब्ध और हताश थे।

बाबूजी इस स्थिति के पुरज़ोर विरोधी थे – कामरेड गुरु प्रसाद श्रीवास्तव (मुंशी जी) के लड़के रूस में, कामरेड हरीश तिवारी का पुत्र मॉस्को में, कालीशंकर की लड़की की पढ़ाई लेनिनग्राद में, डॉ. अहमद तथा चोटी पर के नेता अपने इलाज के लिए आयेदिन रूस प्रस्थान करते रहते। बाबूजी इस पर ख़ूब व्यंग्य करते... वे चुटकी लेते 'मुँह फैलाओ – दोस्त का चुग्गा', 'पैर की मालिश, तुम्हारी पालिश', 'वोद्का की मस्ती, बबुआ में भरे चुस्ती'... वे भारत की पार्टी के रूस का मातहत बनने और परमुखापेक्षी होने के पक्षधर न थे। उनकी चुटकियाँ, मुहावरे और खिल्लियाँ दूसरे को सोचने पर मजबूर कर देते।

जब पार्टी में चीनी आक्रमण को लेकर विभाजन हुआ, तो वे सी.पी.आई. (एम.) के स्वतन्त्र पार्टी-स्टैण्ड – सीमा-विवाद में भारत-चीन से समान दूरी के सही क़दम को अंगीकार कर उसके समर्थक हो गये। अधिकांश आम कार्यकर्ताओं ने पार्टी की नीति और किसान मज़दूर पक्षधरता को समर्थन दिया,

आगे बढ़ाया... सी.पी.आई. (एम.) की पश्चिम बंगाल, केरल और त्रिपुरा में सरकारें बन गयीं... नयी पार्टी का भी संसदीय रास्ता? शकाएँ बढ़ने लगीं।

बाबूजी जब-तब अन्तर्धान हो जाते। अम्मा जी पूछने पर कह देतीं – "यहीं-कहीं गये होंगे..." फिर अपने काम में लग जातीं। अधिक जिज्ञासु को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करतीं – "अरे, अभी तो यहीं थे, बैठो बेटा, आते ही होंगे, कोई ज़रूरी काम हो, तो मुझे बताओ।"

बाबू जी एक स्थान से दूसरे स्थान पर चुपचाप पहुँच जाते, लोगों से मिलते, स्थितियों का जायज़ा लेते, निष्कर्ष निकालते... उनकी चिन्ता बढ़ती जाती। एक से एक मेधावी, कर्मठ लड़के उपेक्षा के शिकार... संसदीय पार्टी का रुझान पूँजीपरस्त और आत्मकेन्द्रित होता जा रहा है... सर्वहारा की पार्टी किसानों और खेत मज़दूरों के दमन पर उतारू... क्रान्तिकारी समझ वाले बाबू जी नक्सलवादी आन्दोलन के पहले ही उस लाइन के समर्थक बनते जा रहे थे... उन्हें लगता सशस्त्र क्रान्तिकारी रास्ता मजबूरन एकमात्र सही रास्ता है, भूस्वामियों के अत्याचारों की समर्थक सी.पी.आई.एम. की दमनकारी नीति व्यापक जन-हितैषी नहीं हो सकती...

पार्टी के चोटी के नेताओं से उनकी बहस होती... डॉ. अहमद, हाज़रा आपा, कामरेड कालीशंकर शुक्ल, शंकर दयाल तिवारी, शिवकुमार मिश्र आदि प्राय: आते रहते...

अम्मा जी, बाबू जी की सच्ची सहयोगी थीं। उन्होंने अमीनाबाद के मुख्य चौराहे के एक कोने पर टोपियों की एक छोटी-सी दुकान खोल ली। सामने टिन की दो कुर्सियाँ और फुटपाथी बरामदे के खम्भे के समीप रखी लकड़ी की छोटी-सी बेंच... जहाँ बाबूजी के चारों ओर एक भीड़-सी लगी रहती। बाबूजी का दृष्टिकोण जानने, सुनने, उनके तर्कों से सहमति-असहमति रखने एवं मार्गदर्शन पाने के लिए सबको एक ललक-सी रहती। उनकी बातचीत में एक रस रहता, एक दिशा होती, प्रेरणा मिलती।

अम्मा जी इतनी मोटी थीं कि छोटी-सी दुकान के तीन-चौथाई भाग में बैठ पातीं। लोग उन्हें प्राय: मोटी अम्मा भी कहते। वे सक्रिय ऐसी कि स्टूल पर पैर रखकर दस बजे के आसपास जो दुकान पर चढ़तीं, तो रात तक हिलने का नाम न लेतीं। एक के बाद दूसरा आगन्तुक आता ही रहता। ग्राहक, परिचित-अपरिचित जनों का ताँता-सा लगा रहता – इनमें अस्सी वर्ष के बड़े-बुजुर्गों से लेकर दो महीने का बच्चा गोद में लिए नवयुवतियाँ तक रहतीं... पर क्या मजाल मुख़ातिब न हों। अम्मा-बाबू जी दोनों को लोगों के नाम याद रहते – कोई वर्षों बाद भी मिले तो नाम लेकर ही सम्बोधित करते, सब कुछ

सन्दर्भ सहित पूछते, जानते। अम्मा जी तड़के उठकर सबका चाय-नाश्ता, खाना बनाकर रखतीं। वे उठ-बैठ न पातीं, लेकिन बाबूलाल भैया जी से, जो अँगीठी जलाने से लेकर घर के अन्य काम करने की ज़िम्मेदारी निभाते थे, अम्मा जी चीज़-सामान पास रखवा लेतीं और खाना बनाती रहतीं... दोपहर का खाना टिफ़िन में रख दुकान ले आतीं।

अम्मा की कर्मठता, ईमानदारी, विश्वसनीयता की साख दूर-दूर तक थी। घर की चीज़ों का प्रबन्ध, दुकान में माल की ख़रीद-बिक्री का हिसाब, अन्य लेन-देन उनके रिमोट कण्ट्रोल से होते रहते। घर और दुकान के पास-पड़ोसी सभी उन्हें बहुत प्यार और सम्मान देते – ज़रूरत पड़ने पर लोग हर तरह की मदद को तैयार... एक संकेत पर अपेक्षित चीज़ों को लोग तुरन्त और स्वयं ही पहुँचा देते। उनकी खरी-खरी बातें और बुलन्द आवाज़ से डरते भी। अम्मा जी ज़्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थीं, परन्तु राजनीतिक लाइन, घटनाक्रमों की जानकारी और अनुभव से वे लबरेज़ थीं। वे कट्टरपन्थ, अन्धविश्वास और रूढ़ियों के ख़िलाफ़ थीं।

जो बात बाबूजी से न हो पाती, वह अम्मा जी धैर्यपूर्वक सुनतीं, समझतीं, सलाह देतीं और मदद करतीं। न जाने कितनों के प्रेम विवाह कराये, परिवारों में समझौता कराया। ज़रूरतमन्द मेधावी लड़के-लड़कियों को पारिवारिक असहयोग के चलते काम ढूँढ़ने में अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर मदद की।

उनकी दुकान क्या राजनीति का अड्डा या सूचना केन्द्र थी। छोटा-सा यह स्थान ज्ञान का इंसाइक्लोपीडिया था। यहाँ देश-विदेश के भी अनेक गणमान्य व्यक्ति आते रहते।

देश विभाजन के बाद भी सरदार अली ज़ाफ़री और रशीदा आपा, सज्जाद जहीर, कैफ़ी आज़मी, बलराज साहनी, मजाज लखनवी, इप्टा के साथी सन्तराम, सव्यसाची, कंचना एवं कॉफ़ी हाउस के बैठकबाज़, साहित्यकार, कवि, ग़ज़ल गायक, छात्र फ़ेडरेशन के रोबिन मिश्रा, अनिरुद्ध सेन गुप्ता, खदीजा अंसारी (मौलवी फ़िरंगी महली की बाग़ी पुत्रियाँ), बजिया, रशीदा आदि अनेकानेक लोगों से बाबूजी का जीवन्त सम्पर्क था।

उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री चन्द्रभानु गुप्त, सम्पूर्णानन्द, बनारसी दास चतुर्वेदी, प्रजातन्त्र समाजवादी पार्टी के नेता त्रिलोकी सिंह आदि घण्टों बैठे रहते... कट्टरपन्थी शिया नेता और पाटानाला स्थित फ़िरंगी महल के मौलवी भी लड़कियों के क्रान्तिकारी रुझान और खुलेपन से क्रोधित होने के बावजूद यहाँ आने से अपने को रोक न पाते। बाबूजी के धैर्य और शालीनता से दिये गये तर्कों के सामने उनके क्रोध और धर्मान्धता का उबाल बढ़ न पाता... अम्मा जी

से एक-दो बार कुछ जासूस टकरा गये – वे कई तरह के प्रश्नों द्वारा कुछ जानकारियाँ लेने आये थे।

अम्मा की अनुभवी आँखें, वे पूछने वाले की नीयत भाँप गयीं, और तरह-तरह के प्रतिप्रश्न करने लगीं। उन्होंने अपनी चतुराई, दृढ़ता और अथक परिश्रम से अन्तिम साँस तक बाबूजी के सिद्धान्त और व्यवहार का अनुपालन किया।

उनके बड़े बेटे बाबूलाल वर्मा (वर्मा – पार्टी नाम), लखनऊ इप्टा की गतिविधियों के संचालक थे। पुत्री सुभद्रा जीजी माध्यमिक शिक्षक संघ की सक्रिय कार्यकर्ता थीं। स्टालिन को उनके तकनीकी विशिष्ट हुनर के कारण 'स्कूटर्स इण्डिया' के निदेशक पद पर नियुक्त कर लिया गया। कमल ने टोपी की जगह घड़ी की दुकान बनायी।

सी.पी.आई. (एम.) से अलग होकर बाबूजी शिवकुमार मिश्र, रामनयन उपाध्याय, महेन्द्र सिंह आदि के साथ उत्तर प्रदेश में सी.पी.आई. (एम.एल.) के संस्थापक बने। उस मूवमेण्ट में वयोवृद्ध बाबूजी की प्रतिष्ठा सर्वव्यापी थी। नक्सलबाड़ी से उठी क्रान्तिकारी लहर अतिवामपन्थी दुस्साहसवाद के गर्त में जा गिरी और देशव्यापी क्रान्तिकारी विकल्प बनने के बजाय स्वयं फूट-दर-फूट का शिकार हो गयी। मेरे जैसे ग्रासरूट संगठनकर्ता रोज़-रोज़ के अनुभव में सी.पी.एम. नेतृत्व के संसदवाद-अर्थवाद और पार्टी जीवन में कम्युनिस्ट मूल्यों के पराभव को देख रहे थे, पर विकल्पहीनता की स्थिति थी। हमारी समझ भी कम थी। फलतः हम रूटीनी क़वायद करते रहते थे और यह उम्मीद पाले रहते थे कि शायद पार्टी एक दिन रास्ते पर आ जाये और तेलंगाना-तेभागा और नौसेना-विद्रोह के दिनों की वापसी हो। सी.पी.आई. (एम.एल.) की राजनीति में बाबूजी की सक्रियता के दिनों में हमारा उनसे सम्पर्क क्षीण हो गया था। बहुत बाद में पता चला कि नक्सलवादी धारा के भीतर बाबूजी अतिवामपन्थी दुस्साहसवादी भटकाव का लगातार विरोध करते रहे थे और क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू करने पर बल देते रहे। काश, उनकी बात सुनी गयी होती...

बाबूलाल वर्मा
(भैया जी)

बाबूलाल वर्मा (भैया जी) श्री नारायण तिवारी (बाबूजी) एवं अम्मा जी के बड़े पुत्र थे। कुछ लोग कहते थे, भैया जी बाबूजी की किसी कमज़ोरी की निशानी थे – जो अम्मा द्वारा पाले-पोसे गये –

यह सच है या बाबूजी के ख़िलाफ़ विरोधियों का कोई दुष्प्रचार – कह नहीं सकती...

स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान बाबूलाल तिवारी विदेशी शासन के अपराधी घोषित हुए तो भूमिगत हो संगठन मज़बूत करने का लक्ष्य लेकर फ़रार हो गये... इस दौरान तिवारी की जगह वे 'वर्मा' – 'बाबूलाल वर्मा' अभिहित हुए और जब पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटा, तो उनकी सार्वजनिक पहचान भैया जी अधिक प्रचलित हुई।

गेहुँआ रंग, पाँच फुट आठ इंच का लम्बा, स्वस्थ शरीर, खद्दर का सफ़ेद कुर्ता, सफाचट मूँछें, होंठों पर मृदु मुस्कान और आँखें आश्वस्तिकारक स्नेहिल, बाबूजी की परछाईं-से प्रतीत होते थे।

हमेशा चुस्त-दुरुस्त, मेहनती युवक यायावर की तरह सड़कों पर अधिक, घर में लेटा-बैठा शायद ही कभी मिलता हो।

पहले-पहल लखनऊ आने पर अम्मा जी के यहाँ जिन भैया जी को देखा, पता चला, लखनऊ में उनके परिवार ही परिवार हैं – आलमबाग़, सरदारी खेड़ा, बरहा, रेलवे कालोनी, पानदरीबा, बताशेवाली गली, क़ैसरबाग़, नज़रबाग़, मेयो रोड, मोतीनगर और अमीनाबाद आदि जहाँ वे उसी परिवार के एक अंग की तरह प्यार, विश्वास और सम्मान पाते – जैसा मौक़ा मिलता वे वहाँ रहते, फिर दूसरी जगह चले जाते...

सजग प्रहरी की तरह भैया जी बड़े तड़के उठ जाते, परिवार के घनिष्ठ सहयोगी, निश्छल, निर्लिप्त मददगार बन जाते...

सुभद्रा जीजी के भैया हम सबके प्यारे वांछित भैया थे। हर परिवार में

राखी बाँधने वाली उनकी बहन होती, रक्षाबन्धन के मौके पर 5 मिनट का भी समय निकाल पाते तो प्रतीक्षारत बहन से 'सूत का पतला धागा' बँधवा लेते, मिठाई खा लेते, परन्तु वे स्वयं रुपये या तोहफ़ा जैसा कभी कुछ न देते – हाँ सरल, तरल, मुस्कुराती आँखों से बड़ी को हाथ जोड़कर तथा छोटी के सिर पर क्षणभर रखा गया हाथ मानो विश्व की सारी सम्पदा दे देता...

जब मैं कानपुर छोड़कर आगे की पढ़ाई करने के लिए लखनऊ आयी, तो सुरेश को डी.ए.वी. कॉलेज में हाई स्कूल की कक्षा में शिक्षण हेतु नियुक्ति मिल गयी। डी.ए.वी. हॉस्टल के पीछे ही ओमदत्त तिवारी के मकान का एक कमरा किराये पर मिल गया – हमारे साथ अम्मा, सुरेश के दो छोटे भाई, सेवा-सुरक्षा हेतु मुक़दमा लड़ रहे जीजा जी और एक मित्र सुशील द्विवेदी भी रहते थे। मैं उन दिनों एल.टी. कर रही थी। भैया जी हमारे साथ रहने आये।

सर्वहारा जीवनशैली – भैया जी बड़े सबेरे उठकर कपड़े, किताबें, बर्तन यथासम्भव व्यवस्थित कर देते, साफ़-सफ़ाई भी, बाहर से पानी भरकर रखते, फुटपाथ पर बैठकर पत्थर के कोयले की अँगीठी सुलगा देते, स्वयं नहा-धोकर तैयार हो जाते, सबके लिए चाय बनाकर केतली में ढँककर रखते – एक कप स्वयं चाय पीते, तब तक अखबार आ जाता, जीजा जी, सुशील व बच्चा से समसामयिक विषयों पर थोड़ी बातचीत करते और कागज़-पत्र रखने वाला छोटा-सा हैण्ड बैग लेकर चले जाते... भैया जी अल्पभोजी थे, रात को प्राय: खाना खाकर आते या दो रोटी/पराँठे मात्र खा लेते...

भैया जी संस्कृतिकर्मी थे। कर्मठ, सक्षम, व्यवहारकुशल। लखनऊ इप्टा टोली कानपुर से कम सशक्त न थी। युवा लड़के-लड़कियाँ उनसे प्रेरणा पाकर अच्छे गायक, वादक, नाट्यकर्मी व शिल्पकार बन गये थे। वे अम्मा जी के घर या जहाँ भी जगह होती लगभग प्रतिदिन रिहर्सल कराते, नये-नये गीत, सामूहिक गान, सामयिक सामाजिक-राजनीतिक बातें – शोषण से मुक्ति की हमें प्रेरणा देते। उन्होंने तथा सन्तराम जी ने मिलकर बहुत से नाटक, प्रहसन, व्यंग्य स्वयं लिखे तथा 'काव्य-सन्ध्याएँ' आयोजित कीं... भैया जी कलाकार से अधिक प्रेरक थे, पथप्रदर्शक थे।

बाबूलाल वर्मा यानी भैया जी, दृढ़निश्चयी, शान्त, सौम्य एवं चरित्रवान थे। समाज बदलने के महत्त्वाकांक्षी उस व्यक्ति का सारा जीवन समाज के अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, स्त्री तथा सर्वहारा के शोषण के ख़िलाफ़ लड़ने के लिए समर्पित था। वे आजीवन अविवाहित रहे।

इप्टा टोली में सुभद्रा जीजी की एक मित्र कृष्णा गर्ग, पति के निधन के बाद अकेली रहती थीं। वे नारी शिक्षा निकेतन के प्राइमरी विभाग में शिक्षण

कार्य करती थीं – एक कलाकार के रूप में इप्टा के कार्यक्रमों में भागीदारी करतीं।

वे भैया जी के प्रति दीवानेपन की हद तक आकर्षित थीं। उन्होंने भैया जी का सान्निध्य पाने की हर मुमकिन कोशिश की, लेकिन जब भैया जी से उन्हें प्रतिदान न मिला तो प्रतिशोध पर तुल गयीं, परन्तु भैया जी प्रेमी या पति किसी भी क़ीमत पर बनने को राजी न हुए। वे तो भैया हैं, सुभद्रा की सहेली के भैया जी। कृष्णा के अनर्गल आरोप, व्यंग्य, सार्वजनिक भर्त्सना सहकर भी वे न प्रतिहिंसक हुए, न कभी किसी से बुराई की। निष्कलुष सज्जन की पूर्वप्रतिष्ठा अक्षुण्ण रही।

बलराम श्रीवास्तव एडवोकेट से पुनर्विवाह हो जाने पर भी वे इस दम्पति से मधुर व्यवहार बनाये रहे। अलबत्ता कृष्णा जीजी ने इप्टा के कार्यक्रमों से अपने को अलग कर लिया।

मैं लालबाग़ स्कूल में शिक्षिका हो गयी। वार्षिक आयोजन के सांस्कृतिक कार्यक्रम की ज़िम्मेदारी मुझे सँभालनी होती – भैया जी ने लालबाग़ स्कूल के समीपस्थ किसी ऑफ़िस में सर्विस कर ली थी, मुझे रोज़ ही मिल जाते। मैं गर्भवती थी, बीमार भी – भैया जी मेरे खाने-पीने, दवा-इलाज और स्कूली काम में भी मेरी सहायता करते।

भैया जी का व्यवहार कुछ ऐसा अनोखा था कि प्रिंसिपल, शिक्षक, कर्मचारी से लेकर लड़कियाँ तक उनसे प्रभावित थीं – उनके आने की प्रतीक्षा करतीं – वे मेरे पूरक थे, सबके भैया जी थे। नाटक होना था, वे लड़कियों का पात्रों के रूप में चुनाव करते – दो-चार शिक्षिकाएँ भी नाटक में पात्र बनीं – सभी उनके निर्देशन के अनुसार चलतीं – स्कूल के पहले या बाद में जब भी वे बुलाते सब हॉल में पहुँच जाते – उनकी भी कोशिश रहती कि पढ़ाई में कम से कम नुक़सान हो – कभी-कभी मैं हॉल में समय से न पहुँच पाती, लेकिन भैया जी पहुँचकर सब कुछ सँभाल लेते... भैया जी की उदारता, निश्छलता, नि:स्वार्थपरता और उच्च चरित्र की सब पर बहुत गहरी छाप पड़ी – विश्वास ऐसा कि अगर भैया जी ने कह दिया है, तो वे उस समय ज़रूर आयेंगे, वह काम ज़रूर हो जायेगा... 'मई दिवस' पर उनके कराये नाटक विशेष उत्साह जगाते...

आठवें दशक के अन्तिम वर्षों में उन्होंने अपनी बहनों को अलविदा कह दिया – सुभद्रा जीजी और अस्थाना जी बलरामपुर अस्पताल में बराबर उनके साथ रहे...

भैया की यादें हूक बनकर आज भी कचोट जाती हैं।

कामरेड जाहिद अली शाह

मई का महीना, दोपहर की चिलचिलाती धूप, झुलसाती लू... मैं रिक्शे से उतरकर कमरे में आकर बैठी ही थी कि देखा कामरेड जाहिद अली शाह लपकते हुए चले आ रहे हैं... सूखे होंठ, बिखरे बाल, एक आँख में हरी पट्टी का शेड लगाये हुए... मैंने टेबुल फैन उनकी ओर घुमा दिया, दौड़कर एक गिलास पानी लेकर आयी, शाह साहब जो कुर्सी पर बैठ चुके थे, मैंने पूछा – "कामरेड आपकी आँख का मोतियाबिन्द का ऑपरेशन हुआ है और आप तेज़ धूप में पैदल चले आ रहे हैं, आपको तो डॉक्टर ने आराम करने के लिए कहा होगा..." शाह साहब ने ठहाका लगाया, मानो सारी थकान धूल की तरह झाड़ दी हो... बोले – "कमला जी! आप भी तो अभी आ रही हैं?" मैंने कहा – "मैं तो रिक्शे से एक-दो स्कूलों में गयी थी..."

उन्होंने पार्टी अख़बार मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा – "कामरेड, मेरे पैर क्या किसी रिक्शे से कम हैं और आराम – यह हरामखोरी का चोंचला बड़े लोगों या पूँजीपतियों के लिए है, हम लोगों के लिए पार्टी का काम पहले है – हमारी पार्टी ग़रीबों, मज़दूरों, मेहनतकशों की पार्टी है – कितना आराम कर पाते हैं वे, छोटे-छोटे बच्चे तक खटते हैं दिन-रात... उनकी ज़िन्दगी से हमदर्दी रखने वाले इस समाज को बदल डालने का जज़्बा रखने वालों को तो काम ही करना पड़ेगा... डॉक्टरों की क्या, वे तो कहते ही रहते हैं...।"

मैंने उन्हें पाँच-दस मिनट रोककर चाय-नाश्ता कराकर जाने दिया...

शाह साहब के चले जाने के बाद लगा जैसे मुझे अपनी थकान के बारे में सोचने का विचार चिढ़ा रहा हो...

जाहिद अली शाह का परिवार एक समृद्ध परिवार था। पारिवारिक आरामतलब जीवनशैली और कट्टरपन्थी, दकियानूसी माहौल, पर जाहिद अली इस सोच के विपरीत किशोरावस्था में ही कम्युनिस्ट पार्टी से जुड़ गये।

वे मज़दूर बस्तियों के बीच जाकर पार्टी का अख़बार बेचते, पर्चे देते और कार्यक्रम समझाते। उन्होंने उर्दू चार-पाँच कक्षा तक ही पढ़ा था, लेकिन स्वाध्याय और अनुभव से हिन्दी व अंग्रेजी का भी कुछ ज्ञान हासिल कर लिया

था। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य बन गया – मज़दूरों, मज़लूमों, मेहनतकशों को शोषण व अन्याय के ख़िलाफ़ लड़ना सिखाना, अपने हक़-हुक़ूकों को जानना और एक नये समाज को बनाने की कोशिश में जुटे रहना।

शाह ने आजीवन विवाह नहीं किया, निजी परिवार नहीं बनाया, पार्टी के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े काम को अंगीकार करने में ख़ुशी महसूस करते। ज़िन्दगी का एक-एक क्षण पार्टी को समर्पित...

लखनऊ में तब पार्टी ऑफ़िस नये गाँव पश्चिम लाटूश रोड की मुख्य सड़क के पीछे मलिन बस्ती की एक गली के बीच नाले के किनारे बने दुमंज़िले मकान में था। सामने वाली गली में एक ओर धोबी बड़े से टब में कपड़े भिगोते रहते, प्रेस करते रहते, सोडा-सज्जी-साबुन की महक गलीभर में फैली रहती, नुक्कड़ पर हलवाई की दुकान, पान-सिगरेट की गुमटी... मकान के नीचे का भाग पार्टी का प्रेस था और जीने से ऊपर की मंज़िल के दो-तीन कमरों में पार्टी ऑफ़िस – यहीं शाह साहब रहते थे।

मैंने इस रिहाइश के दौरान शाह साहब को जिस रूप में देखा उससे आश्चर्य, श्रद्धा और दुख से मन स्तब्ध रह जाता है। पार्टी ऑफ़िस की झाड़-बुहार, आने-जाने वालों की व्यवस्था, मीटिंगों की तैयारी, दरी बिछाने से लेकर ज़िला पार्टी सेक्रेटरी जैसी बड़ी ज़िम्मेदारी का पदभार सँभालने वाले अकेले जाहिद अली शाह...

शाह होलटाइमर थे, उन्हें चालीस-पचास रुपये मात्र पार्टी वेज मिलती थी, यही उनके जीवन-निर्वाह का एकमात्र साधन था। अतिशय मेहनती और ईमानदार – सैकड़ों रुपये चन्दा, पार्टी सदस्यता, अख़बारों की बिक्री तथा अन्यान्य प्राप्तियाँ... सही लेखा-जोखा रखते, सही जगह पहुँचाते... कभी किसी की शिकायत नहीं की, परन्तु वैचारिक विरोध में पीछे न रहते, डटकर अपनी समझभर आलोचना करते...

वे कब, कहाँ, किस कोने में सोते पता ही नहीं चलता। प्रायः बड़ी-बड़ी मीटिंगें होतीं, बहस-मुबाहसा होते रहते। पठन-पाठन कार्यक्रम, निर्णायक प्रस्ताव और कार्यान्वयन योजनाएँ बनाने के लिए केन्द्रीय, प्रदेशीय से ज़िला स्तर तक के कार्यकर्ता वहाँ जुटते, उनके बैठने का प्रबन्ध, लिखने-पढ़ने के साधन (काग़ज़, क़लम, चौकी, तख़्ती, दरी, पानी, चाय) आदि सभी कुछ के लिए प्रायः शाह ज़िम्मेदारी निभाते – वे हर जगह लम्बी दूरी पर भी पैदल चलकर समय पर पहुँच जाते...

बस में उन्हें कम ही सफ़र करते देखा... उनके पास इतने पैसे ही न होते कि वे वाहन पर व्यय करते... दूसरे किसी के साथ होने पर जो उनका भी

टिकट ले लेता या चाय-नाश्ते पर व्यय कर देता, तो इनकार भी न करते।

एक बार रामसमुझ वर्मा ने हम सब लोगों के साथ शाह साहब को भी खिचड़ी भोज पर आमन्त्रित किया – उनका छोटा-सा घर – दोपहर दो बजे तक सभी लोग पहुँच गये। शाह साहब भोज शुरू हो जाने पर आये। मेज़, तख़्त, दरी, जो जहाँ बैठ गया, उसे थालियों या प्लेटों में वहीं खाना परोस दिया गया, लेकिन उनकी पत्नी कट्टरपन्थी थीं। उन्होंने शाह साहब के लिए पत्तल में खाना परोसा, वह भी लगभग नाली के पास... उनकी पत्नी की सोच – शाह मुसलमान हैं, बिरादरी के बाहर के जीव – रामसमुझ के व्यवहार में भी यही भाव... मुझे और सुरेश को यह बहुत अखरा – यदि अछूत मानना था तो शाह को बुलाया ही क्यों? एक कामरेड का ऐसा अपमान – पर शाह साहब ने बिना कोई विरोध जताये सहर्ष सहभोज में भाग लिया... बाद में रामसमुझ ने क्षमा याचना की। शाह ने कहा – "कामरेड! छुआछूत, कट्टरपन्थी सोच एक दिन में कैसे मिटाओगे, इसके लिए तो लम्बी जद्दोजहद करनी होगी – क्यों?"

धीरे-धीरे देख-रेख, खाने-पीने की कमी और आँखों पर अधिक स्ट्रेन पड़ने के कारण उनकी रोशनी ख़त्म होते-होते न के बराबर रह गयी। शाह साहब असहाय से हो गये। उनके लिए तो माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-परिवार, नाते-रिश्तेदार सभी कुछ पार्टी ही थी... सी.पी.आई. (एम.), मार्क्सवाद उनका ओढ़ना-बिछौना था, आस्था की सीमा में शायद भगवान के समकक्ष...

बीमारी, लगभग अन्धता और असाध्यता की इस स्थिति में उनकी देख-रेख कौन करता?... कभी कोई एक गिलास पानी लाकर पिला देता, तो पी लेते, चाय बनायी जाती, कोई दे देता, तो हिम्मत करके उठ जाते, पी लेते। जिस कमरे में छपी हुई किताबें, अख़बार, वर्षों के रिकार्ड, रजिस्टर, ठसाठस भरे हुए; एक कोने में कुछ बैनर, झण्डे, रस्सियाँ, दरियाँ एवं एक के ऊपर एक कुर्सी रखी हुई थीं; वहीं रोशनी से बचने के लिए अँधेरे कमरे में चटाई पर दरी-चादर बिछाकर अकेले लेटे रहते, शायद एक कबाड़ की तरह...

मार्क्सवादी पार्टी से मार्क्सवाद मानो तिरोहित हो चुका – लोग आते, पार्टी ऑफ़िस के खुले कमरों को देखकर लौट जाते... नये युग के नवयुवक छात्र-छात्राएँ, पार्टी की दीन-हीन दशा, चारों ओर गन्दगी का अम्बार... कोई कामरेड होता भी, तो कुछ पढ़ने-लिखने में मशगूल दिखायी देता... आगन्तुकों से मुख़ातिब होकर क्या करना?...

पार्टी में संशोधनवाद गहरे तक पैठ गया था – ऑफ़िस विकर्षण का स्थान...

बीमार (बुखार में तपते) शाह साहब पार्टी ऑफ़िस छोड़कर अपनी बहन के घर चले गये। कुछ दिन बहन ने सहारा दिया, परन्तु बीमार, बेकार भाई जो बचपन में ही सबको छोड़कर चला गया था, अब बोझ बनने के लिए आया है, पार्टी क्यों नहीं रखती?

और शाह साहब के लिए बहन के दरवाज़े भी बन्द हो गये... वे रात को जैसे-तैसे चलते-टटोलते हुए पास ही स्थित मस्जिद के पास की गली में बेहोश होकर गिर पड़े... किसी दीन नमाज़ी ने इन्हें देखा, दो-तीन जनों ने उठाकर मस्जिद में लिटा दिया। पता चला, जिस जाहिद ने कभी ईश्वर को नहीं माना, इस्लाम की कट्टर संकीर्ण विचारधारा को अस्वीकार कर दिया, उनकी दृष्टि में तो व्यक्ति से पार्टी या संस्था बड़ी होती है, 'धर्म' आदमी को ठस बनाकर सुला देता है – अगर जागरूक बनना-बनाना है, तो पार्टी पर भरोसा करके उसके साथ चलना होगा... और वे घर छोड़कर पार्टी के पास चले आये थे...

पर अन्त में बेहोश शाह साहब को मस्जिद में शरण मिली...

किसी मौलवी ने ज़कात के सहारे एक हफ़्ते तक उनकी साँसों को टूटने नहीं दिया... आठवें दिन करुण मृत्यु ने रात के तीन बजे इस्लाम के दर पर अपनी आग़ोश में ले लिया...

काफ़ी दिनों बाद रामसमुझ वर्मा मेरे घर आये – उन्होंने दुखी मन से कहा – "कमला जी। कामरेड जाहिद अली शाह की मृत्यु हो गयी, वह भी मस्जिद में..."

मैं धक्-से रह गयी... कहा – "क्या?"

वर्मा जी ने कहा – "हाँ कमला जी, मैं तो पाण्डेय जी के बार-बार कहने पर इसलिए पार्टी सदस्य बन गया था – कि दुख में, गाढ़े में, मेरी अनुपस्थिति में, पार्टी हमारे परिवार का सहारा बनेगी, देख-रेख रखेगी... लेकिन ऐसी पार्टी – जाहिद अली शाह की ऐसी दुर्दशा... इससे तो अपने केंचुल में सिकुड़ जाना ज़्यादा ठीक है, (उनकी आवाज़ भारी हो गयी)... अब मैं इसकी सदस्यता का नवीनीकरण कभी नहीं कराऊँगा..."

असुर देवता

प्रदीप्त मुखमण्डल, पतले मुस्कुराते होंठों पर हल्की रोमराजि, बड़े सिर, चौड़े माथे के ऊपर छँटे हुए काले, महीन बाल, चमकदार बड़ी-बड़ी आकर्षक आँखें, गेहुँआ रंग, लम्बाई लगभग छह फुट दो इंच, बीस वर्षीय नवयुवक जयनारायण पाण्डेय सशस्त्र क्रान्तिकारियों के सहयोगी थे। वे कानपुर कोतवाली बमकाण्ड-साज़िश के फ़रार अभियुक्त थे। जयनारायण पाण्डेय पढ़ाकू, लड़ाकू, जुझारू तेवर वाले छात्र फ़ेडरेशन के सक्रिय कार्यकर्ता एवं अच्छे वक्ता थे। पार्टी ने इन्हें 'सुरेश' नाम दिया जो सर्वाधिक प्रचलित हुआ।

सामाजिक सेवा कार्य हो, सुरक्षा टोली में जाना हो, जागरूकता अभियान चलाना हो, नेतृत्व या प्रतिनिधित्व करने की आवश्यकता हो, पार्टी जहाँ के लिए जैसा तय करती, वे पहुँच जाते।

तेभागा आन्दोलन में उत्तर प्रदेश छात्र दलीय प्रतिनिधित्व करने प्रताप कुमार टण्डन के साथ सुरेश भी कलकत्ता गये और छात्र प्रतिनिधि के रूप में वक्तव्य देकर उत्तर प्रदेश की उपस्थिति दर्ज करायी।

1945-46 में डाककर्मियों और नाविकों की हड़ताल – छात्र फ़ेडरेशन ने समर्थन किया। उत्तर प्रदेश से कई छात्रों के साथ सुरेश बम्बई गये, जुलूस में शामिल हुए, वहाँ किये गये लाठीचार्ज में चोट भी खायी...

जब साम्राज्यवादी शोषण एवं दमन की परम्परा बरक़रार रखने वाली तथाकथित आज़ाद सरकार ने गिरफ़्तार कर बिना किसी चार्जशीट के जेल में ठूँस दिया, तो एकजुट छात्र साथियों सहित जेल में चरम उत्पीड़न का मुक़ाबला किया। भूख हड़ताल तुड़वाने के लिए डॉक्टरों की दमघोंटू ज़्यादती से पस्त जब एक-एक कर साथी टूटने लगे, तो चिन्तित, तर्कशील, बहुपठित इस बुद्धिवादी साथी ने पार्टी की बी.टी.आर. लाइन को 'अतिवादी' इंगित किया (जिसे कालान्तर में पार्टी ने भी माना)...

एक जासूस छात्र बनकर गिरफ़्तार हुआ और जेल पहुँच गया। वह एक ओर जेल अधिकारियों से मिलकर पल-पल की सूचनाएँ सरकार को पहुँचाता, तो दूसरी ओर पार्टी को (सशक्त साथियों के ख़िलाफ़) गुप्त पत्र भेजकर गुमराह

करता रहा... उस समय ज़िला पार्टी सेक्रेटरी सुरेश के घनिष्ठ मित्र रामआसरे थे। उन्होंने बिना गहन पड़ताल के ही ईमानदार जुझारू साथीद्वय (खेतान-सुरेश) को ही सज़ा दी। पार्टी ने सुरेश को अनुशासनहीनता और मुख़बिरी यानी पार्टी-तोड़क का झूठा आरोप लगाकर अविलम्ब निष्कासित कर दिया। पार्टी के इस अन्याय और ज़्यादती से हतप्रभ सुरेश का दिल टूट गया, निराशा घर कर गयी, जिसने उनके पूरे व्यक्तित्व को ही मानो तबाह कर दिया।

पार्टी सेक्रेटरी ने जब वास्तविकता जानी, तो ग़लती सुधारते हुए सुरेश की सदस्यता की बहाली कर दी... पर वे हृदय से कभी इस अन्याय को माफ़ नहीं कर पाये। उनका मन जेल में साथियों द्वारा किये गये व्यंग्य, अपमान और उपेक्षा को कभी भूल न पाया... उस स्थिति की याद आते ही उनका मन कटुता से भर जाता।

उनका दुखी मन चारों ओर भटकता, तरह-तरह की प्रहारात्मक योजनाएँ बनाता, बार-बार सोचने लगता अन्याय की मुख़ालफ़त का रास्ता?... उन्हें लगा मानसिक यन्त्रणा का प्रतिशोध मानसिक यन्त्रणा द्वारा ही हो सकता है... उदासी और ख़ालीपन के इन क्षणों में उन्हें किशोरवय की प्रेम असफलताओं की याद आती, जिन्हें वे कभी-कभी कविता, गीत या रेखाचित्रों में पिरो लेते...

सौन्दर्योपासक युवक जिस 'सुधा' को काल्पनिक प्रेयसी के समकक्ष एहसास कर यथार्थ की दुनिया में पाने के लिए प्रयत्नशील हुए, वह असमय ही यमराज को प्यारी हो गयी... और अब –

दो साल बाद जब वे जेल से रिहा होकर घर आये, तो दुख और क्रोध से विह्वल हो उठे... परिवार आर्थिक बदहाली का शिकार, छोटे भाई कुप्रवृत्तियों के चंगुल में, पोषणकर्मी माँ वृद्ध और बीमार तथा पत्नी के रूप में पार्टी द्वारा थोपा गया विवाह-बन्धन... कहाँ है निवृत्ति का मार्ग? मुक्ति का रास्ता कहाँ है? विकल युवक सोचता रहा... सोचता रहा। तभी बिजली की कौंध ने मानो रास्ता दिखा दिया...

'अपने व्यक्तित्व का इतना विकास कर ले, इतना कि वह स्वयं एक संस्था बन जाये।' उसे अपने श्रम, अपनी क्षमताओं में अटूट शक्ति महसूस हुई... बनूँगा, ज़रूर बनूँगा – स्वनिर्मित सफल कैरियरिस्ट... किसी कोने से किसी का भी अहसान नहीं लूँगा, और युवक ने विश्वविद्यालय में शीर्षस्थ बनने से पहले चैन नहीं लिया –

लखनऊ गये। एल.टी. प्रथम श्रेणी में पास की। डी.ए.वी. इण्टर कॉलेज में नियुक्ति हो गयी। नवनियुक्त अंग्रेज़ी प्रवक्ता ने कुछ ही दिनों में अन्य विद्यालयों के शिक्षकों से सम्पर्क किया... सब जगह प्रबन्धकीय शोषण की समान दुखद

दास्तानें... युवक ने शिक्षकों को प्रबन्धकीय शोषण एवं तानाशाही के विरुद्ध लामबन्द किया। इसने पहले वामपन्थी, जुझारू, जागरूक शिक्षकों का एक ग्रुप तैयार किया, फिर उस ग्रुप को सतत प्रेरित और शिक्षित कर आन्दोलन के लिए तैयार किया... जागरूक शिक्षकों ने शिक्षा अधिनियम 1921 के अनुसार नियुक्ति, प्रमोशन, वेतनमान, छुट्टी तथा सेवा सुरक्षा शर्तों का अनुपालन न करने वाले प्रबन्धतन्त्र को चुनौती दी...

फलतः पहले से स्थापित प्रतिक्रियावादी दक्षिणपन्थी संकुचित सोचवाले 'प्रबन्धक समर्थक' और 'प्रगतिशील विचार' के स्पष्टतः दो ग्रुप हो गये। सुरेश ने स्वयं पहुँचकर, पत्रों के द्वारा या व्यक्ति द्वारा सूचना प्रेषण कर पुराने परखे हुए जुझारू साथियों – ठाकुरदास, खेतान, कोमल, ठकुराई, आयूब खाँ, मान्धाता, ओमप्रकाश आदि को प्रदेश स्तर पर एकजुट किया, कमेटी बनायी और सामूहिक निर्णय के अनुरूप जुटकर एक वृहद् संगठन खड़ा कर दिया, जिसका संचालन-सूत्र सुरेश के हाथ में रहता, कमेटी कोई भी निर्णय सुरेश की बिना सहमति के न कर पाती...

माध्यमिक शिक्षक संघ मध्यवर्ग का विशाल संगठन बनता जा रहा था – उसकी शक्ति सत्तासीन पूँजीवादी पार्टी के लिए ख़तरा थी। ओमप्रकाश एवं मेरठ समर्थक, सत्ता के समीप खिसकते गये – अध्यक्षीय चुनाव में ओमप्रकाश प्रगतिशील संगठन के अध्यक्ष और पाण्डेय जी उनके चुनाव एजेण्ट थे – निर्वाचन अधिकारी ने दबाव में आकर ओमप्रकाश के बजाय विरोधी ग्रुप के महेश्वर पाण्डेय को विजयी घोषित करना चाहा, जो सन्देहास्पद था... ओमप्रकाश किसी भी तरह पुनर्मतगणना के लिए राजी न हुए – महेश्वर ग्रुप भी डटा रहा – अतः विशाल संगठन दोफाड़ हो गया। अलग-अलग कॉन्फ़्रेंस – एम.एल.सी. के लिए अलग-अलग रास्ता...

ओमप्रकाश ने शासन से गुप्त समझौता कर अपने मुताबिक़ एम.एल.सी. की कई सीटें तय कर लीं। संगठन की दिशा सामूहिक हित-संरक्षण की बजाय स्वार्थपरक व्यक्तिवाद की ओर मुड़ गयी।

पाण्डेय जी ने अंग्रेज़ी, एम.ए. में टॉप किया। तुरन्त विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी के लेक्चरार नियुक्त हो गये। एकाधिपत्य के लिए पाण्डेय जी की दख़लन्दाज़ी रोकना पहली शर्त... ओमप्रकाश (सोच) समर्थकों ने प्रहार किया – विश्वविद्यालय स्तरीय शिक्षक हमारे संगठन में दख़लन्दाज़ी क्यों करे? शिक्षक एकजुटता को अपनों से ही एक और झटका... परन्तु सुरेश ने हार नहीं मानी, इसका भी रास्ता निकाल लिया।

मैं लालबाग़ अमेरिकन मिशनरी कॉलेज में हिन्दी शिक्षिका थी। वहाँ

सुविधा-सम्पन्नता द्वारा मानसिक गुलाम बनाये रखने का वातावरण – शिक्षक संगठन कैसे बने? पर मैं एम.एस.एस. की शाखा स्थापित करने में वहाँ तहेदिल से जुट गयी। और लालबाग़ एक विश्वसनीय, मज़बूत शाखा बनी, कमला पाण्डेय पर पूरा भरोसा...

मेरे शाखा-प्रतिनिधि बनते ही सुरेश ने मुझे ज़िला उपाध्यक्ष पद पर मुक़ाबले में उतार दिया, मैं पुरुष उपाध्यक्ष और शान्ति बोरकर महिला आरक्षित उपाध्यक्ष पद पर आसीन हो गये।

सुरेश ने स्वयं किंगमेकर की भूमिका अपनाकर मुझे सामने कर लखनऊ शिक्षकों का मज़बूत संगठन खड़ा कर ओमप्रकाश को चुनौती दी...

पार्टी की लचर नीति – माध्यमिक शिक्षकों के बारे में न कोई सोच, न विमर्श। अतः ब्रांच मीटिंगों में भी पाण्डेय जी की सोच, उन्हीं का वर्चस्व...

शासन सत्ता की गहरी पैठ – ज़िले की कई शाखाओं में धन-पदलोलुप, प्रबन्धक एवं सत्तासीन पार्टी समर्थक शिक्षकों का एक चालाक वाचाल ग्रुप बैठकबाज़ी कर पाण्डेय जी को अपने घेरे में ले जकड़ने लगा... इस कॉकस ने हम फ़ील्ड वर्कर्स के मुक़ाबले अनजाने ही पाण्डेय जी की सक्रियता एवं विश्वसनीयता को अपने स्वार्थ में भुनाना जारी रखा। फलतः ग्रुप के अन्दर ग्रुप... शाखा स्तरीय व्यक्तियों की परख पर मेरा पाण्डेय जी से मतभेद स्वाभाविक हो गया...

सबसे पहले आर.एस.पी. से जुड़े डी.ए.वी. के कॉमर्स शिक्षक ए.पी. गुप्ता ने पाण्डेय जी को आर्म चेयर पोलिटिशियन कहकर उनका विरोध किया। पार्टी सदस्य शान्ति बोरकर, वेदकुमार शास्त्री आदि उनके साथ जुड़कर शाखा स्तरीय शिक्षकों के विश्वासपात्र बनते गये और ग्रुप के अन्दर पाण्डेय का विरोध बढ़ता गया... पाण्डेय जी में ग़ज़ब की संगठन क्षमता थी जो भी उनके विरोध में ग्रुप बनाने की कोशिश करता, उसके ख़िलाफ़ कमला पाण्डेय जी का इस्तेमाल करना न चूकते। ज़िला राजनीति में कमला पाण्डेय प्रायः अजेय थीं – उनकी एक विश्वसनीय, ईमानदार पदाधिकारी की साख थी, परन्तु व्यक्तिगत जीवन में उनकी स्थिति सर्वाधिक दयनीय थी। घर-परिवार से लेकर सार्वजनिक जीवन तक में पाण्डेय जी पर निर्भर, उनकी अनुचरी...

विश्वविद्यालय के योग्य प्रवक्ता का माध्यमिक शिक्षकों की समस्याओं के निराकरण में सहयोग अनुपम था। वे मुझे मोटर साइकिल पर बिठाकर ज़िले के लगभग सभी विद्यालयों में पहुँचा देते, शाखा-शिक्षकों से भी परिचय रहता... कई जगह हमारे वैचारिक विरोधी शिक्षक पाण्डेय जी के पास दौड़कर पहुँच जाते... वे उनसे घुल-मिलकर बतियाते रहते और शाखा में मेरे प्रति भ्रम की

स्थिति बनाने में सफल होते।

पाण्डेय जी को प्रायः सहमति-असहमति से कोई मतलब न होता। मेरे नाम से एक नया ग्रुप तैयार हो जाता और किंगमेकर की संजीवनी पाकर जीत जाता... लाख न चाहने पर भी मेरा शान्ति बोरकर ग्रुप से विरोध हो जाता। शान्ति बोरकर को मैं अच्छी, ईमानदार, मेहनती महिला मानती और अपनी परिस्थिति स्पष्ट करने की चेष्टा भी करती; परन्तु अब वे भी समर्थक कॉकस द्वारा घिरी और भड़की रहतीं... हम और वे (शान्ति जी) एक ही पार्टी के मेम्बर थे, परन्तु वे मुझे व्यक्तिगत रूप से अपना शत्रु समझतीं... पार्टी मीटिंग में सिर्फ़ एक एजेण्डा होता – कमला बनाम शान्ति बोरकर... वहाँ पाण्डेय जी भी होते, और मेरी पैरवी करते, मुझे बोलने का मौक़ा ही न मिलता – पार्टी सेक्रेटरी शंकर दयाल तिवारी लच्छेदार बातें करते हुए तटस्थ नीति अपनाते और मीटिंग ख़त्म...

पाण्डेय जी अच्छे व्यंग्य लेखक थे। उनके शब्दचित्र इतने सटीक और चुटीले होते कि इंगित व्यक्ति बिना तिलमिलाये न रहता... शान्ति बोरकर, ए.पी. गुप्ता के मुक़ाबले मेरा कैरीकेचर भी करते पर कुछ हल्का होता – लोग समझ जाते, पर बिना नाम के पर्चा वितरण से लाभ क्या होता? हमारी सोच और साख को ही धक्का पहुँचता। शान्ति बोरकर को तथा मुझे भी मानसिक यन्त्रणा देना उन्हें ज़्यादा रास आता... मुझे लगता अगर वे सार्थक समाजोन्मुखी लेखन करें तो ज़्यादा अच्छा हो, पर मेरा कथन, मेरी स्थिति नक़्क़ारख़ाने में तूती की आवाज़ जैसी हो जाती... घर-परिवार हो या संगठन... मेरी वास्तविक आवाज़ मेरी सोच की तरह कहीं दूर मिमियाती रह जाती... मेरा व्यापक सामाजिक काम, जनता की माँग और उसके प्रति मेरी जवाबदेही की ज़िम्मेदारी – मुझे फ़ील्ड से दूर न रहने देती। और घर तो सराय बना दिया गया था। परिवार के नाम पर एक भीड़... रात-दिन उसकी उपस्थिति, कार्याधिक्य, आर्थिक खींचतान और दो कमरों का छोटा-सा घर... पाण्डेय जी को यह स्थिति शायद सुकून देती, पर मेरा तनाव बढ़ता रहता। छोटी-छोटी बच्चियों का बचपन छिन गया, उन पर घर के काम का बोझ और एक माँ से (चिड़चिड़ाहट भरी माँ) से दूरी मानो उन्हें पीसे डालती...

आश्चर्य! पाण्डेय जी इस मौक़े पर बच्चों के हमदर्द बनकर उनमें माँ-विरोधी भावनाएँ भर देने का सफल अभियान चला लेते... घर में भी दो ग्रुप स्वतः बन जाते; बच्चे, सुरेश समर्थक नातेदार-मित्रों का एक ग्रुप – कमला समर्थक रिश्तेदार मित्र और पार्टी के कुछ साथी दूसरी ओर...

पाण्डेय जी ने अनेक बार मुझे आर्थिक परेशानियों में ढकेला। वे मेरी तनख़्वाह पर क़ाबिज़ होना चाहते, ताकि ज़रूरी जेबख़र्च तक के लिए मैं

मोहताज हो जाऊँ... वे अपनी तनख़्वाह और ट्यूशन आदि के रुपयों को अनावश्यक कामों में ख़र्चते रहते। आपसी सलाह करना, हिसाब करना या बजट बनाकर चलना मुख़ालफ़त समझते – ग़रीबी की स्थिति में जज-पुत्री मेरी देवरानी के भाई को सोलह सौ रुपये अल्सीशियन प्रजाति के कुत्ते को ख़रीदने के लिए दे दिये, जबकि घर में राशन तक न होता। उनकी रुचि पीने-पिलाने की ओर घूमी, तो मेरा ही शोषण नहीं बढ़ा, अन्नू पर भी बुरा असर पड़ने लगा... लड़कियों की शादी हो चुकी थी, मैं और अन्नू केवल अपने परिवार के साथ शान्ति से रहने के पक्षधर थे। लेकिन पाण्डेय जी हमारे लाख विरोध के बावजूद अपने छोटे भाई को सपरिवार घर ले आये। हरी एयरफ़ोर्स में कार्यरत थे, सरकारी ख़र्च और संरक्षण में उनका दवा-इलाज भली-भाँति हो रहा था, किन्तु उन्हें हम माँ-पुत्र के विरुद्ध प्रतिद्वन्द्वी ग्रुप जो बनाना था –

अन्नू इन्हीं के, पीने और धुआँ उड़ाने के, मार्ग पर चल पड़ा। वह मेधावी था, लखनऊ विश्वविद्यालय में पढ़ने के साथ ही पार्टटाइम जॉब भी कर रहा था। व्यवहार-कुशल और लोकप्रिय था। लेखन व पत्रकारिता की ओर रुझान, लखनऊ विश्वविद्यालय में छात्रों की 'दस्तक' पत्रिका शुरू की, जिसका वह उपसम्पादक था। बहस या बातचीत के दौरान उसने पाण्डेय जी को संशोधनवादी, बुर्जुआ एवं तानाशाह भी कहने का साहस किया... पाण्डेय जी को मुखर विरोध की बजाय मौन यन्त्रणा देने में महारत हासिल थी...

उन्होंने मेरे विरुद्ध मेरी देवरानी (शकुन) को रसोई के माध्यम से आर्थिक बागडोर सौंप दी... अपना वेतन, ट्यूशन के रुपये, अन्नू से प्राप्त कुल धनराशि की स्वामिनी शकुन तथा उसके बच्चे सर्वेसर्वा होते गये। वे हर काम में प्रमुख भागीदार, अन्नू क़दम-क़दम पर अपमानित, उपेक्षित... पिता चचेरे भाई के साथ बैठकर हँसते-बतियाते, अन्नू एक शब्द तक बोल-सुन पाने को तरसता रहता... कोई बताये दोष क्या? बच्चा अपने को अभागा, अपमानित महसूस करता... किन कारणों से पिता की दृष्टि में वह हेय, निन्दनीय और नाकारा था...?

और एक दिन 4 जनवरी, 1989 को दिन के 11 बजे पीछे के छोटे से कमरे में गाउन की पतली पुरानी डोरी से फाँसी लगा ली – आश्चर्य यह कि उस समय घर में कम से कम आठ-नौ लोग रहे होंगे... उसके पैर ज़मीन पर थे, सिर छत को छू रहा था, और डोरी पंखे की कुण्डी में बँधी थी, वह ऑफ़िस जाने के लिए पूरी तरह तैयार था...

स्कूल से बुलाये जाने पर आयी, देखा तो हृदय इसे आत्महत्या स्वीकार करने को तैयार न था, विक्षिप्त-सा मन संज्ञाशून्य होकर कुछ भी कर पाने में असमर्थ था... पता नहीं किस प्रतिशोध, किस क्रूर आनन्द की चाहत में देव

(सुरेश) का मार्ग आसुरी होता गया...

परन्तु जब कुछ दिनों बाद बिठूर से लौटकर आयी और देखा – क्या सचमुच पिता का देवत्व असुरत्व में बदल गया था... युवा पुत्र की मृत्यु ने पिता के हृदय को इतना मथा कि सारा रस सूख गया... सूखी निर्जीव-सी आँखें, उदास मुख, बीमार शरीर... मुझे फिर भी अछूत समझते रहे... अपने में ही अकेले सिमटते, सिकुड़ते, तड़पते हुए अन्ततः 10 सितम्बर, 1991 को लगभग दो साल बाद इहलोक को छोड़ गये... अस्पताल में अकेली मैं और बच्चा... जिस परिवार को उन्होंने व्यक्तिगत मन:शान्ति के लिए हमारा प्रतिद्वन्द्वी बनाया, उसने स्वयं देवता का सर्वशोषण करने में कोई कसर न छोड़ी...

सुरेश द्वारा किया गया शोषण, विरोध, त्रास, निन्दा, यातनाएँ आदि आसुरी वृत्तियों के मुक़ाबले उनके गुणों की फ़ेहरिस्त कहीं अधिक लम्बी है। यदि विरोध है तो है... कहीं कोई समझौता नहीं... किसी भी स्थिति में झुकूँगा नहीं, हार नहीं मानूँगा... कितना भी संकट हो... विजय पाकर रहूँगा... प्रवृत्ति हो या निवृत्ति... स्वनिर्मित लक्ष्य की ओर सतत बढ़ते जाने की ज़िद्द, युयुत्सु की लगनशीलता क्या प्रणाम योग्य नहीं?

महादेव प्रसाद खेतान

चित्रलेखा के बीजगुप्त की तरह खेतान पाप-पुण्य, सेक्स-नैतिकता, विवाह, रीति-रिवाज आदि की परम्परावादी परिभाषाओं और सोच से सहमत न थे। वे कहते –

पाप और पुण्य का विश्लेषण अपने-अपने स्वार्थ के अनुरूप किया जाता रहा है। जीव हत्या पाप है, लेकिन शिकार एक खेल है, एक शान है; निरीह जीव को खदेड़-खदेड़, तड़पा-तड़पाकर मार डालना पाप नहीं है। चींटी को मारना या पैर से कुचलकर उसका मर जाना पाप है, लेकिन नरबलि पाप नहीं है। बाल विधवा की ज़िन्दगी तबाह करना या होते देखना पाप नहीं है, कन्या को 60 वर्षीय बूढ़े के भी गले मढ़ देना यानी कन्यादान पुण्य है... घर के सात तालों में बन्द लड़की को गर्भवती बना देना और चुप लगा जाना या मुकर जाना नैतिकता है और अकेली असहाय लड़की को ही अनैतिक और चरित्रहीन बताकर दण्डित करते रहना उचित है। युवा विधवा का तिल-तिल कर घुटते रहना आदर्श है, परन्तु दूसरा विवाह कर लेना हिक़ारत का काम...

इसी तरह पण्डितों के मन्त्रोच्चारों और अग्नि-प्रदक्षिणा की आड़ में छिपे स्वार्थी मनोभावों का भी वह मज़ाक़ी लहज़े में उद्घाटन करने से न चूकते...

पास में बैठे हुए किसी दोस्त को धौल जमाते हुए कहते... "क्यों यार। चलें, हाथ पकड़कर सात बार घूम लें, हज़ारों रुपये दहेज पाने का हक़ मिल जायेगा..." फिर हँसते या ठहाका लगाते, कहते – "अच्छा, मैं बन जाता हूँ लड़की – मेरे बाप से माँग लेना दहेज – मारवाड़ी के पास बहुत पैसा है... देखा नहीं कुलीन ब्राह्मण है, एक शादी की बीवी मार दी, दहेज घर में रखा, दूसरी शादी कर ली, फिर दहेज... कुलीन हो तो शादी करते जाओ, बीवियाँ मारो-काटो-ढकेलो और फिर-फिर दहेज... कमाई का सस्ता नुस्खा – यही परम्परा है, यही ग्रन्थों, पुराणों का आदर्श है, आदेश है... क्यों?"

महादेव प्रसाद खेतान छात्र फ़ेडरेशन के सक्रिय कार्यकर्ता थे। सुरेश के साथी, सहयोगी। मैंने खेतान को पहली बार तब देखा, जब वे मेरी सास अम्मा द्वारा भेजे जाने पर शादी से पहले जेठ के रूप में मुझे कंगन पहनाने आये थे।

उनके कई प्रेम-सम्बन्ध थे, लड़कियाँ उनकी दीवानी थीं – एक लड़की ने तो खेतान से न मिल पाने के कारण आत्महत्या तक कर ली थीं... यह सब मुझे जेल अवधि में सुरेश से मिलायी के दौरान पता चला... खेतान अपने सम्बन्धों को छिपाते भी न थे। अपनी ओर से किसी लड़की को हानि पहुँचाना, ग़ैर-ज़िम्मेदाराना व्यवहार करना ठीक न समझते...

एक घटना याद आ रही है – सुरेश जेल से लौटकर घर आये... निराश मन वे मुझसे पिण्ड छुड़ाना चाहते थे... वे पार्टी से नाराज़ थे और मैं अन्ध भक्त... सुरेश और खेतान एक दिन मुझे लेकर रेस्टोरेण्ट गये – कॉफ़ी पी, इसी बीच सुरेश उठकर चुपचाप खिसक लिये, खेतान ने चारों ओर देखा, बिल चुकाया और मुझे लेकर कानपुर होटल के चबूतरे पर खड़े रहने को कहकर ऊपर गये, वहाँ किसी विवाहित लड़की, दो बच्चों की माँ को कुछ रुपये और कोई चिट्ठी दी और मेरे पास आये। मेरा हाल बेहाल था, सुरेश फिर भी वहाँ नहीं मिले। खेतान मुझे जनरलगंज ले गये। मेरी कम्प्लीट ड्रेस – साड़ी-ब्लाउज़, पेटीकोट, रुमाल ख़रीदकर दिया। फिर उसी होटल के किसी कमरे में कपड़े बदलने का अनुरोध करने लगे। मेरा हृदय घबरा उठा। मतलब क्या है? पर खेतान को चिढ़ाने, मसखरी करने में मज़ा आता था, मुझे हाथ पकड़कर किसी कमरे में ले गये, कमरा बाहर से बन्द कर दिया – मैंने भय और प्रसन्नता से भरकर अन्ततः कपड़े बदल लिये। थोड़ी देर में दरवाज़ा खुला, खेतान बच्चों की तरह खिलखिलाकर हँस पड़े, बोले – "गुड गर्ल... वेरी-वेरी गुड गर्ल।" मुझे रिक्शे पर बैठाकर घर लाये... मेरे उतरने से पहले ही अम्मा को बुलाने के लिए चीख़-पुकार करने लगे। सुरेश कमरे में बैठे कुछ पढ़ रहे थे। खेतान बोले – "देखो-देखो ये पचास रुपये... रिक्शे से उतरो!" मैं सकुचायी-सी उतरी, कहा – "अम्मा ये झूठ बोल रहे हैं, केवल चालीस रुपये ख़र्च हुए, दस रुपये ज़्यादा मत देना," मुझे लगा खेतान दस रुपये ज़्यादा वसूलना चाहते हैं... पर अम्मा मेरे बचपने पर हँस दीं। खेतान ने सुरेश की पीठ में एक मुक्का जमाया और कहा – "रे घोंचू तू यहाँ बैठा है साले, और मैं वहाँ ढूँढ़ रहा था..." फिर मेरी पीठ पर भी धौल जमायी और बोले – "ले अपनी अमानत सँभाल, मैं चला..." और क़दम बढ़ाते हुए गली पार कर गये...

खेतान पार्टी के प्रति भी वफ़ादार और अनुशासित थे...

बी.टी.आर. पीरियड में भूख हड़ताल तोड़ने के कारण हुई अनुशासनहीनता के लिए उन्हें भी पार्टी से निकाल दिया गया था, लेकिन सदस्यता-बहाली के बाद उन्होंने पार्टी से सम्पर्क – जीवन्त सम्पर्क रखा। रामआसरे से उनकी दोस्ती घनिष्ठ होती गयी। और हर तरह से वे उनकी मदद करते रहे, तन से, धन से,

मन से। उनकी लड़की देवसेना (बिटिया) के वे और उनकी पत्नी तारा सतत अभिभावक रहे और उसे आसरे की वारिस के रूप में उत्साहित भी करते रहे।

उनकी अपने पिता से ज़रूर बराबर अनबन रही। उनके पिता कट्टरपन्थी, संकुचित दृष्टि के थे। पिता से विलग जब वे सुरेश के साथ हमारे घर रहने आये, तो उनका खुलापन, खिलन्दड़ा हँसोड़ स्वभाव और हम सबको सहयोग करने का निश्छल भाव कभी भुलाया नहीं जा सकता... जब सुरेश और मैं भी कानपुर में अम्मा को छोड़ लखनऊ चले गये... छोटे अपनी पत्नी के साथ ही ससुराल में रहने लगे, तो खेतान अम्मा के पास रहने लगे, उनकी हर सम्भव देखभाल करते... इसी समय इत्तिफ़ाक़ से कामरेड शान्ति त्यागी टी.बी. का इलाज कराने कानपुर के हैलेट हास्पिटल में एडमिट हो गये, तो उनकी पत्नी कुमुद और एक साल के बच्चे – नाना को खेतान ने हमारे ही घर में नीचे के हिस्से में रख दिया। अम्मा से नाना खूब हिल गया। कामरेड त्यागी की सम्पूर्ण देखभाल में खेतान जुट गये। कुमुद को एल.टी. में एडमिशन दिलाया और जितना जो हो सकता – घर का किराया, कापी-किताबें, एल.टी. की फ़ीस, अन्य ख़र्चे – खेतान 'करेण्ट बुक डिपो' से देते... इस दौरान एक साथ रहते हुए दो युवा हृदयों में स्वाभाविक सम्बन्ध हो गये, लेकिन उन्होंने न इसे अनैतिक कहा, न पाप माना... उनकी दृष्टि में यह परिस्थितियों की नैसर्गिक माँग है, जिसने आगे बढ़ने का हौसला दिया, उत्साह दिया जो मानव जीवन का अंग है...

रूप कुमारी खेतान (तारा) की माँ कुख्यात थीं, फिर भी खेतान ने उनसे सहर्ष शादी की। लोगों ने इस ओर इंगित किया तो कहा – ऐसी ही लड़की तो मुझसे शादी करेगी... और हम सबने देखा कि खेतान दम्पत्ति का पूरा जीवन अटूट प्यार, परस्पर सम्मान और समान वैचारिक रास्ते पर चलते रहने वाला था।

सी.पी.आई. टूटी तो सी.पी.आई. (एम.) की लाइन अधिक जुझारू लगी, और वे अनेक साथियों के साथ इसके सक्रिय कार्यकर्ता बने। चीनी आक्रमण और भारत-चीन सीमा विवाद के दौरान खेतान का पक्ष था कि समाजवादी चीन पड़ोसी भाई पर आक्रमण की पहल नहीं कर सकता... भारत-चीन सीमा विवाद के दौरान खेतान चीन के सक्रिय पक्षधर थे, उन्होंने करेण्ट बुक डिपो के माध्यम से पुस्तक छापने, विचारधारा फैलाने के लिए चीनी भाषा में लिखित साहित्य का हिन्दी, अंग्रेज़ी, बंगला आदि कई भाषाओं में अनुवाद करवाया। सांस्कृतिक आदान-प्रदान के क्षेत्र में भी बहुत काम किया। 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' मंच से दो देशों की एकजुटता को बढ़ावा दिया – साथियों को प्रोत्साहित कर उन्हें लेखन के लिए धनराशि भी दिलायी... सुरेश

पाण्डेय ने कई कहानी संग्रह और एक उपन्यास का हिन्दी अनुवाद किया – कोमल, आनन्द आदि ने कविता, कहानी, नाटक लिखे, जो खेले भी गये... इसके अतिरिक्त शान्ति तथा एकजुटता का सन्देश देने वाले कई डेलीगेशनों का भी आदान-प्रदान हुआ...

तारा, उनकी पत्नी, महत्त्वाकांक्षी थीं – खेतान ने हर स्तर पर उन्हें आगे बढ़ाने में सहयोग किया। वे कानपुर एम.एस.एस. की पदाधिकारी ही नहीं, प्रदेश और अखिल भारतीय शिक्षक संघ तक में महत्त्वपूर्ण पद पर रहीं। तारा जनवादी महिला संगठन की ज़िला से लेकर अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति के महत्त्वपूर्ण पदों पर भी बराबर चुनी जाती रहीं। विदेश – सिंगापुर जाने को उत्सुक श्रीमती खेतान को महादेव खेतान ने हवाई जहाज़ से भेजा, उनकी तमाम सुख-सुविधाओं का ध्यान रखा...

खेतान जब बीमार रहने लगे, तो उनका पुत्र अनिल दुकान देखने लगा, उसने वामपन्थी पुस्तकों का संग्रह मात्र न रखकर बाज़ार और मुनाफ़े की दृष्टि को प्रमुखता देनी शुरू की। 'करेण्ट' की पूरी सोच और ढाँचा पूँजीवादी बनता गया और अब भी उसी राह पर गतिशील है... खेतान लकवाग्रस्त हो गये... दवा इलाज से कुछ ठीक तो हुए, लेकिन अशक्त... अनिल और तारा ने खेतान के विचार और नाम का व्यक्तिगत हित में, वारिस के नाते भरपूर फ़ायदा उठाया... उसने अनेक पुस्तक प्रदर्शनियाँ भी आयोजित कीं, जिनसे काफ़ी मुनाफ़ा तो हुआ... लेकिन खेतानकालीन साख, वह व्यवहार, वे प्रेरक जुमले और मित्रता को अमिट बनाने वाला प्यार एक टीस भरी स्मृति बनकर रह गये हैं...

जब मैंने पत्रिका **अनुराग** निकाली, और खेतान से सहयोग की आशा की, तो आशा के विपरीत उन्होंने न केवल हतोत्साहित किया, वरन् खिल्ली उड़ाते हुए क्षमता पर प्रश्नचिह्न भी लगाये...

मैंने उनके इस व्यवहार में बीमारी से उपजी निराशा और खीझ महसूस की, और क्षणिक दुख के बाद भूल भी गयी... परन्तु खेतान ने सम्भवतः इसे बाद में ग़लत व्यवहार माना और भरपाई करने के लिए प्रयत्नशील होने लगे... और एक दिन जब ज़रा कुछ ठीक हुए तो लकवाग्रस्त, जर्जर, गिरते-लड़खड़ाते हुए डी-68, निराला नगर के घर मुझसे मिलने आये, तारा उन्हें सँभाले हुए थीं... मेरा हृदय उमड़ उठा, आँखें भर आयीं, उसके कुछ ही दिन बाद उनकी मृत्यु हो गयी... ऐसे प्रिय, ज़िम्मेदार, ईमानदार साथी को मेरा लाल सलाम...

एक अपील*

प्रिय साथियो,

माध्यमिक शिक्षक संघ के पचासवें वर्ष – स्वर्ण जयन्ती के इस अवसर पर मैं आप सबको अपनी शुभकामनाएँ प्रेषित करती हूँ। मुझे विश्वास है कि लखनऊ जनपद के हमारे सक्षम साथी संगठन के यान को सही दिशा में आगे बढ़ायेंगे।

आपने मुझे याद किया और अपने बीच चाहा है, इसके लिए मैं हृदय से आभारी हूँ। साथियो, मैं इस पत्र के माध्यम से आपके बीच अपनी उपस्थिति दर्ज कराना चाहती हूँ, साथ ही उन तमाम साथियों की उपस्थिति भी स्मृति के रूप में दर्ज कराना चाहती हूँ, जिन्होंने तत्कालीन शिक्षक वर्ग की दशा का आकलन किया, सक्षम नेतृत्व दिया, काँपते-लड़खड़ाते यान को सँभाला और एकजुटता की दिशा दी। हम सभी साथियों ने रात-दिन एक करके अथक संघर्ष करते हुए एक सशक्त संगठन की विरासत आपको सौंपी।

मेरी समझ है कि व्यक्ति से संगठन महान है। 'थॉट्स रूल द वर्ड' – 'विचार संसार के संचालक हैं' – जहाँ वैचारिक साथी मुट्ठी बाँध क़दमताल करते हुए बढ़े, मंज़िल पास आती गयी है। माध्यमिक शिक्षकों का यह संगठन जो आपको विरासत के रूप में मिला है, इसे सचेतन जनधारा बनाकर सही दिशा में गतिमान रखना आपका दायित्व है।

आपको देखना और समझना होगा कि सैकड़ों साथियों के श्रम से सिंचित और पल्लवित यह विरासत मात्र व्यक्तिपरक सीमित और संकुचित बनकर न रह जाये। हम वर्तमान की खुशफ़हमी में ही न डूबे रहें, अतीत को भी याद कर लें, ताकि भविष्य में निर्भीकतापूर्वक क़दम बढ़ाते समय ग़लतियों को दोहराने से बचें।

---

* माध्यमिक शिक्षक संघ के स्वर्ण जयन्ती वर्ष (14 अक्टूबर, 2006) के समारोह के अवसर पर, ओमप्रकाश गुट के नेतृत्व के अनुरोध पर भेजा गया सन्देश, जो अविकल रूप में छपकर आम शिक्षकों तक पहुँच नहीं पाया।

इस मौके पर राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर को याद दिलाना ज़रूरी लग रहा है – आज़ादी के दीवाने अदना से व्यक्ति को भी जागरूक करते, उसमें आत्मविश्वास जगाते, वे उस इकाई को अपना घनिष्ठ समझते, अपनी शक्ति मानते। इस भाव ने हिन्दू, मुसलमान, सिख – सबका एक लक्ष्य बना दिया – विदेशी शोषकों से मुक्ति। मन्दिर-मस्जिद-गुरुद्वारे शिक्षा का केन्द्र-बिन्दु बने, धन-उगाही के साधन नहीं – लक्ष्य से जोड़ने के स्थान थे, उपाय थे। रचनाशीलता में, अनुशासन में स्पर्धा का भाव – एकजुट हो, उमंग के साथ, मुक्ति सेना की क़तार में आगे बढ़कर आहुति देने की तड़प ने जान की बाज़ी लगा दी। विश्व स्तब्ध रह गया – तब अंग्रेज़ भारत छोड़ने को मजबूर हुए।

दुनिया की नज़रों में अंग्रेज़ अपना बोरिया-बिस्तर समेटकर चले गये, पर क्या वे सचमुच चले गये? भारत का शोषित जन अन्याय और दरिद्रता से मुक्त हुआ? गुलामी के गर्त से निकल पाया?

नहीं मित्रो, आज भी हमारे करोड़ों साथी गुलाम मानसिकता में जीने के लिए अभिशप्त हैं। आम जनता का पूँजीवादी-साम्राज्यवादी शोषण आज भी जारी है।

अंग्रेज़ों की शिक्षा नीति थी – शासकीय सुगमता हेतु भारतीयों को क्लर्क बनाना। उनमें हीनभावना बरक़रार रखना। जो व्यक्ति या समुदाय इसकी मुख़ालफ़त करे, उसे कूटनीति या फूटनीति से रोको और तोड़ो – किसी भी प्रकार उसे आगे मत बढ़ने दो – फिर भी प्रयत्नशील दिखे, तो परिस्थितियों के जाल में फँसाकर पस्तहिम्मत कर दो, पर कतर दो, रौंद दो।

देश स्वतन्त्र हुआ। लोकतान्त्रिक पद्धति अपनायी। संविधान के माध्यम से सत्ता हस्तान्तरण – तो संविधान में ही अंग्रेज़परस्तों को 33 प्रतिशत से अधिक सीटें देना अनिवार्य बना दिया गया। फलतः यह मानसिकता सत्ता के उच्चासनों से लेकर ज़मीन तक क़ाबिज़ होती गयी। कुकुरमुत्ते की तरह सैकड़ों शिक्षण संस्थाएँ खुलती गयीं। शिक्षा को निजी स्वार्थ-साधन का हथियार बनाया गया। लार्ड मैकाले की शिक्षण-पद्धति जारी रही। हीन मानसिकता पनपती रही।

इन निजी संस्थाओं का उद्देश्य – शोषण और धनउगाही बरक़रार रहा।

उत्तर प्रदेश की राजधानी में ही एक ओर ईसाई मिशनरी शिक्षण संस्थाएँ – (लामार्टिनियर, लॉरैटो, कैथिड्रल, क्रिश्चियन, लालबाग़ आदि-आदि) तो उन्हीं के समानान्तर (काल्विन ताल्लुकेदार, जयपुरिया, महानगर ब्वायज़ आदि) समृद्ध वर्ग के लिए सुख-सुविधाओं से लैस थे और इन कॉलेजों का प्रबन्धतन्त्र उच्चवर्ग, अमीरों, सम्पन्न नेताओं व नौकरशाहों के बाबा-बेबियों को एक नये

भावी शासक वर्ग के रूप में तैयार करने में जुट गया और आज तक पूरे मनोयोग से जुटा हुआ है।

दूसरी ओर मध्यम वर्ग के लिए खुनखुनजी ज्वैलर्स, अग्रवाल, जैन, रस्तोगी आदि बड़े व्यापारी वर्ग ने गली-कूचों और घनी बस्तियों में स्कूलों के माध्यम से अपनी जागीरदारी और हनक़ बढ़ानी शुरू कर दी। वर्ण व्यवस्था के तहत खोले गये विद्यालयों में परम्परागत जातिगत श्रेष्ठता और प्रतिद्वन्द्विता द्वारा ईर्ष्या-द्वेष का ज़हरीला बीज खुलकर पनपाया गया। शिक्षक प्रबन्धतन्त्र के मनोनुकूल व्यक्तिगत उठापटक को प्राथमिकता देने को मजबूर, शिक्षण गौण हो गया। पूरी की पूरी शिक्षा व्यवस्था निजी हाथों में – जाति, धर्म, सम्प्रदाय, व्यक्तिवाद और धन-उगाही पर आधारित हो पैर फैलाती गयी। तरह-तरह के शोषण शिक्षक को हीनभावना ग्रस्त करते गये। अभिभावक भारी फ़ीस, डोनेशन और चन्दों के बोझ से दबने को विवश, तो बच्चे भारी-भरकम बस्तों, स्कूल ड्रेसों के ताम-झाम और होमवर्क से भयाक्रान्त क़ैदी बनकर रह गये। सकारात्मक, रचनात्मक, उल्लासपूर्ण शिक्षा की कल्पना भी समाप्त होती गयी। जन-जन के स्वस्थ विकास का लक्ष्य कहीं दूर छूटता गया।

निम्न मध्यमवर्ग की प्राथमिक पाठशालाओं और दीन-हीन बच्चों से किसको फ़ायदा होता? वे खुले ही नहीं, और अगर खुले भी तो कूड़े के ढेर मान लिये गये। सैकड़ों स्कूल सिर्फ़ काग़ज़ पर खुले, धरती पर नहीं। जो कुछ सरकारी स्कूल नगर महापालिका ने खोले भी – उनमें न छत थी, न शिक्षक, न साधन।

काग़ज़ों में दर्ज फ़र्ज़ी व्यय अधिकारियों की जेब में चला जाता।

आज़ाद भारत – केन्द्र से लेकर प्रदेश तक सत्ता पर क़ाबिज़ कांग्रेस का एकाधिपत्य। नेतृवर्ग के सामने अन्तरराष्ट्रीय साख और व्यक्तिवाद प्रमुख लक्ष्य था। जन शिक्षा कोई मुद्दा ही न था। गाँधीजी की आत्मनिर्भरता वाली जन शिक्षा नीति आउट ऑफ़ डेट समझी गयी।

वर्ष 1956 में ए.टी.ए. (असिस्टेण्ट टीचर्स एसोसियेशन) और एस.टी.ए. (सेकेण्ड्री टीचर्स एसोसियेशन) के विलय से निष्पन्न शिशु का नाम रखा गया – 'माध्यमिक शिक्षक संघ'।

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में उस समय एक बड़ा ब्राह्मणवादी ग्रुप विद्यालयों पर क़ाबिज़ था। उसके सर्वाधिक प्रभावशाली शिक्षक के.के.सी. के श्री बलभद्रप्रसाद बाजपेयी थे। बाद में वे के.के.सी.एल.टी. कॉलेज के प्रधानाचार्य बन गये। शासन-प्रशासन से लेकर अनेक विद्यालयों के प्रबन्धक

उनके मुरीद थे। गाँव-देहात तक में उनके निजी स्कूल थे। वहाँ की भूमि और शिक्षक वर्ग पर उनका एकाधिकार था। माध्यमिक शिक्षक संघ पर भी उन्होंने क़ब्ज़ा कर लिया।

मध्यमवर्गीय शिक्षक दोहरी मानसिकता में जी रहा था। एक ओर वह त्यागी समाज-निर्माता के दम्भ में डूबा हुआ था। मज़दूरों की तरह पाई-पाई के लिए सड़कों पर उतरकर नारे लगाना, धरना-प्रदर्शन, मशाल जुलूस आदि गरिमा विरुद्ध कार्यों को हेय समझता, वह ऐसे संघर्षों के पास तक न फटकता; दूसरी ओर घर-परिवार की ज़िम्मेदारी और विपन्नता की स्थिति। स्कूल में पढ़ाने से अधिक उसे प्रबन्धतन्त्र के अनेक घरेलू और व्यक्तिगत काम करने पड़ते, झिड़कियाँ खानी पड़तीं; इनकार करने का अर्थ – दूसरे दिन से नौकरी समाप्त। शिक्षक नियुक्त होता, पर नियुक्तिपत्र न मिलता; बिना किसी कारण या सूचना के जब चाहे नौकरी से बर्ख़ास्त किया जा सकता था। बीच सेशन में निकाल दिये जाने के बाद चाहे अगले सत्र में फिर उसे ही रख लिया जाये, वह छात्रों का कोर्स पूरा कराता, लेकिन वेतन का हक़दार न होता। प्रबन्धक की इच्छा ही क़ानून थी। घर-परिवार की ज़िम्मेदारियों, बेरोज़गारी से जूझते, शोषण दर शोषण, अन्याय और अत्याचार से त्रस्त इन शिक्षकों की लहूलुहान आत्मा मानसिक दासता की चक्की में पिसती रहती – पिसने को मजबूर की जाती रही।

शिक्षक के न कोई ग्रेड, न अधिकार, न सेवा-शर्तें...

मँहगाई की मार, कठिन आर्थिक-सामाजिक समस्याओं से जूझती मध्यमवर्गीय शिक्षित महिलाओं के लिए सबसे संरक्षित और सम्मानित स्थान विद्यालय माना जाता था, लेकिन वास्तविकता – रोंगटे खड़े कर देने वाली...। शिक्षित युवतियों को एक शिक्षिका की नौकरी पाने और उसे बरक़रार रखने के लिए तरह-तरह की मानसिक यन्त्रणाओं और दैहिक कुत्साओं का शिकार होना पड़ता था। कुछ बहनों को तो बेबस, शर्मनाक स्थितियों से मुक्त होने के लिए आत्महत्याएँ तक करनी पड़ीं। कई विद्यालय प्रबन्धकों की ऐशगाह के रूप में प्रचलित थे। प्रबन्धक की कृपा से नियुक्त शिक्षिका घर-परिवार, समाज और स्कूल में किस क़दर मनस्ताप और भय की ज़िन्दगी जी रही थी, आज इसका अन्दाज़ा लगा पाना मुश्किल है।

कई विद्यालयों में एक शिक्षक को दो अलग-अलग समीपस्थ भवनों में चलने वाले प्राइमरी से लेकर इण्टर कक्षा तक के बच्चों को दोनों पालियों में लगातार सुबह से शाम तक पढ़ाना पड़ता। न विद्यालय का कोई एक निश्चित

समय, न काम के घण्टे – छात्रों की कक्षा-संख्या भी तय नहीं। हर हालत में विद्यालय उपस्थिति ज़रूरी थी। प्रबन्धक के घर पर उपस्थिति दर्ज कराये बिना विद्यालय उपस्थिति पूरी नहीं मानी जाती – शिक्षक वेतन प्राप्ति से वंचित किया जा सकता था।

शिक्षिकाओं को तो प्रसव के बाद भी कोई छुट्टी न मिलती। कहीं-कहीं डॉक्टरी सर्टिफ़िकेट के आधार पर पाँच-छह दिन का अवैतनिक अवकाश दे दिया जाता। लाचार स्थिति में विद्यालय न पहुँच पाने की शिक्षिका द्वारा प्रेषित अर्जी नामंज़ूर या ख़ारिज़ कर दी जाती, और निकाल दिये जाने के शत-प्रतिशत इम्क़ानात होते।

कहना न होगा कि अंग्रेज़ों से अन्याय, शोषण, छल-फ़रेब, लूट-खसोट और ज़ोर-ज़बरदस्ती की विरासत हासिल किये हुए प्रबन्धतन्त्र के नीचे काम करना हर दिन सिर पर मौत की तलवार लटकने के समान था। ऐसी दुर्गति में शिक्षक घुटता रहता।

इन स्थितियों में काम करने वाले कुछ जुझारू साथियों ने माध्यमिक शिक्षकों के इस संगठन को संघर्ष की दिशा दी। लखनऊ में मि. टोंकी, शिया कॉलेज के श्री वजीर हसन आब्दी, कालीचरन कॉलेज के श्री बलराज नारायण सक्सेना और डी.ए.वी. कॉलेज के अंग्रेज़ी के शिक्षक श्री जे.एन. पाण्डेय ने ब्राह्मणवादी तानाशाही और संकुचित दृष्टि का विरोध करने की मुहिम शुरू की। इन साथियों ने एक सक्षम विपक्षी दल की लोकतान्त्रिक नींव डाली।

खुनखुनजी गर्ल्स इण्टर कॉलेज में कार्यरत कु. शान्ति खन्ना (बोरकर) तथा डी.ए.वी. के श्री ए.पी. गुप्ता, जो आर.एस.पी. से जुड़े रहे थे, ने संगठन को जीवन्त और सचेत बनाने को प्राथमिकता दी। इन साथियों ने एक-एक स्कूल, एक-एक गली, लगभग सभी सेवारत शिक्षकों के घर बल्कि देहात के स्कूलों तक का दौरा किया। वहाँ शाखाएँ बनायीं और अनेक कर्मठ साथियों को जोड़ा। आर.एस. कामथान, जयदेव लाल, महिपाल शास्त्री, रामशंकर अवस्थी, वेदकुमार शास्त्री, किशोरी सिंह, एम.पी. दुबे, अशोक घोष आदि के अतिरिक्त अनेक शिक्षिकाओं ने, जैसे प्रेमा तिवारी, सुभद्रा कपूर, कमला महेन्द्रू, लक्ष्मी चकबस्त, सुधा अग्रवाल, मिसेज़ श्रीवास्तव आदि ने भी सहयोगी के रूप में संगठन को सचेतन और गतिशील बनाया।

1954 में मैंने खुनखुन जी इण्टर कॉलेज में तीन माह के प्रोबेशन पर काम शुरू किया। मेरे शिक्षण कार्य से सन्तुष्ट प्रबन्धक महोदय ने दो महीने में ही अंग्रेज़ी शिक्षिका पद पर मुझे एक अतिरिक्त इंक्रीमेण्ट के साथ एल.टी. ग्रेड में

स्थायी भी कर दिया। किन्तु मैंने बेसिक और हाई स्कूल कक्षाओं को दो अलग पालियों और बिल्डिंगों में भाग-भागकर पढ़ाने से इनकार कर दिया। प्रबन्धक की दृष्टि में शिक्षक एक मशीन था, न काम के घण्टे नियत, न छात्राओं की संख्या तय... मैंने विरोधस्वरूप त्यागपत्र दे दिया – और मध्य सत्र में ही लालबाग मिशनरी स्कूल ज्वॉइन कर लिया। यहाँ शिक्षिका वायलेट शेरिंग छह माह की छुट्टी लेकर अध्ययन हेतु अमेरिका चली गयीं, जिससे एक अल्पकालिक पद रिक्त हुआ। अगले वर्ष वहाँ मुझे हिन्दी शिक्षिका के पद पर (एल.टी. ग्रेड) नियुक्त कर लिया गया। इस विद्यालय में ग़ैर-ईसाई और विवाहिता को नियमानुसार नियुक्त नहीं किया जा सकता था, लेकिन कोई भी उपयुक्त ईसाई शिक्षिका उपलब्ध न हो पायी। मैं पूर्णतया योग्य थी, और विचारों में उदार; अतः मुझे निकाला नहीं गया। मैनेजिंग कमेटी में इस पर ज़ोरदार जद्दोजहद हुई, अन्ततः अपवादस्वरूप मैं स्वीकृत हुई।

इस सम्पन्न स्कूल में संगठन के सदस्य बना पाना बड़ी ही टेढ़ी खीर था। धर्मान्ध सोच, हिन्दू और हिन्दी भाषा एक प्रकार से नफ़रत के पर्याय थे। अमेरिकी मिशन से मिलने वाला बेइन्तिहा धन समय-समय पर शिक्षिकाओं में भी वितरित किया जाता। इसके अतिरिक्त चीज़, बटर, सूखा दूध, फल एवं खाद्यान्न प्रतिदिन मिलता। लेखन सामग्री, पर्स, रूमाल, तौलिया, झोले और बर्तन – शिक्षक, क्लर्क, कर्मचारी सभी को हर महीने प्रदान किये जाते; अतः वे ऐसे स्वर्ग-सुख से विरत होने की कल्पना तक नहीं कर सकते थे। सुख-सुविधाओं के मकड़जाल में चौंधियाई आँखें स्कूल प्रबन्धकों के पद तल देखती रहतीं – वे शोषणमुक्त समाज के हामी कैसे होते! मैंने बेहद धैर्य और अतिशय शारीरिक-मानसिक श्रम के बल पर शिक्षिकाओं और छात्राओं के बीच अपनी स्वतन्त्र पहचान बना ली। मुझे देश का विपन्न-शोषित जन दिखायी देता। मेरे सामने शोषण से मुक्ति का लक्ष्य छाया रहता...

अन्ततः 1959 में मैं छह शिक्षिकाओं को माध्यमिक शिक्षक संघ का सदस्य बनने पर राजी कर सकी। मैं शाखा मन्त्री और कु. पीटर्स डेलीगेट थीं। इसी वर्ष पाण्डेय जी ने लखनऊ विश्वविद्यालय में रेग्युलर छात्र के रूप में एम. ए. अंग्रेज़ी ज्वॉइन कर लिया। साथियों ने मुझे ज़िला निर्वाचन में पुरुष उपाध्यक्ष पद पर वाजपेयी ग्रुप के मुक़ाबले खड़ा किया। मैं प्रचण्ड बहुमत से जीती। शान्ति जी महिला उपाध्यक्ष हुईं।

अब बलराज, ए.पी. गुप्ता, शान्ति जी और मुझ पर ज़िले के संगठन को आगे बढ़ाने की ज़िम्मेदारी थी। हम चारों की सोच एक, शैली एक – हम

उमंग और आत्मविश्वास से भरे हुए जनप्रतिबद्धता की दिशा में बढ़ते जाते...

कामकाजी शिक्षिकाओं की स्थिति बदतर थी – हम लोग विद्यालय पहुँचते तो प्रधानाचार्य के डर से वे हम लोगों से बात करने से कतरातीं, अपने घर-परिवार के बीच भी अपनी कोई कठिनाई बताने से डरतीं-झिझकतीं, उनकी स्थिति घर में भी किसी ग़ुलाम से कम न थी। मैं और शान्ति बोरकर उनसे स्कूल छूटने पर गेट से बाहर सड़क पर चलते-चलते बात करते। पुरुष स्कूलों में हम कभी साथ-साथ, कभी अलग-अलग, एरियावाइज़, कभी गलियों और मुहल्ले स्तर पर उनके घर जाते, उनकी समस्याएँ सुनते, उनमें आत्मविश्वास भरते, हल ढूँढ़ने का समयबद्ध आश्वासन देते – और शाम को सब प्रायः मेरे ही घर पर जमा हो जाते और पाण्डेय जी की उपलब्धता से फ़ायदा उठाते; विचार-विमर्श करते और आगे का रास्ता तय करते।

अब हमारा ग्रुप साथियों के जुड़ते जाने से बड़ा हो रहा था। हम समस्याओं को श्रेणीबद्ध करते, शाखा स्तर पर प्रधानाचार्य और शिक्षक प्रबन्धक स्तर पर वार्ता करने जाते तो ब्राह्मणवादी ग्रुप के प्रभावशाली लोगों और ज़िला स्तरीय पदाधिकारियों को भी शामिल कर लेते, इससे कटुता और हठधर्मिता में कमी आती। प्रबन्धतन्त्र को आभास होने लगता कि एकजुट संगठन एक बड़ी शक्ति है।

शैक्षिक नियमों के उल्लंघन की स्थिति में हमें शिक्षा विभाग के अधिकारियों से मिलना पड़ता और उन्हें शिक्षा अधिनियम 1921 की (जी) तथा ए, बी, सी, डी, ई आदि अपेक्षित धाराओं का हवाला ज़रूरत पड़ने पर देना पड़ता। ज़िला स्तरीय प्रतिनिधिमण्डलों में जाने से पहले हम विभिन्न धाराओं का भलीभाँति अध्ययन व पठन-पाठन करते। हम व्याख्या और तथ्यों को सटीक ढंग से रखने और समझने में जे.एन. पाण्डेय की योग्यता और अनुभव से फ़ायदा उठाते और वे भी अपनी पढ़ाई के बावजूद पूरे मनोयोग से विचार-विमर्श करते-समझाते।

हमारे ग्रुप का एक अनिवार्य फ़ैसला यह था कि हम सब अपने-अपने विद्यालयों में ठीक समय पर पहुँचें और शिक्षण कार्य ज़रूर करें। यह हमारे उच्च चरित्र और अपने कार्य के प्रति निष्ठा का मापदण्ड था।

हमारा घर डी.ए.वी. छात्रावास के पीछे था। पाण्डेय जी लोकप्रिय इंगलिश टीचर थे, छात्र हितैषी, व्यवहार-कुशल...

हम ग्रुपों में बँट जाते, हर ग्रुप सुबह-सुबह पहुँचकर पाण्डेय जी से दिशा-निर्देश लेता – वे पर्ची में स्कूलों के नाम, उनकी टाइमिंग तथा रूट

लिख देते, साथ में लंच पैकेट भी देते, जो वे अपने घर पर तैयार करवाकर रखते – घर क्या पूरा कम्यून बन गया था। हर कोई शौक़ से अपना पैसा ख़र्च करके भी काम करने को लालायित रहता। छात्र और एक-दो मुहल्ले की वृद्ध महिलाएँ (छनन की माता जी, नागर बुआ आदि) भी पूड़ियाँ बेलने-सेंकने आ जातीं – वे सब ख़ुश होते, क्योंकि वहाँ मिलता मधुर, सहयोगी खुला वातावरण...

सुबह की पाली में शिक्षण करने वाले साथी दोपहर के स्कूलों में अपना कार्य समाप्त करके पहुँचते, और दोपहर को अपने विद्यालय में शिक्षण करने से पहले वे मॉर्निंग कॉलेजों में अभियान पर निकले होते। सभी को अथक परिश्रम करना पड़ता। अपने-अपने काम की रिपोर्ट देने और अन्य विद्यालयों की रिपोर्ट जानने के लिए शाम को सब घर पर इकट्ठा होते – जोश और आत्मविश्वास से लबरेज़...

स्कूलों में शोषण बरक़रार था। अनियमितताओं के अम्बार थे। 16 (जी) के अनुसार "प्रबन्धक शिक्षक को बीच सेशन में नहीं निकाल सकता, एक वर्ष तक सतत कार्यरत रहने पर, वह स्वयं स्थायी हो जायेगा", पर व्यवहार में इसका अनुपालन न होता। आगे के खण्ड में विधान था – "स्थायी शिक्षक इंक्रीमेण्ट का हक़दार होगा, उसका पी.एफ़. कटेगा और टी.आर. की कटौती के बराबर ही प्रबन्धक को भी देना होगा और यह सारा पैसा पी.एफ़. का अलग खाता खोलकर स्कूल इस राशि को उस खाते में जमा करेगा।" परन्तु इन सबमें घोर अनियमितताएँ और धोखाधड़ी आये दिन हमें पता चलती। के.के.सी. के प्रबन्धक महोदय चालीस हज़ार से अधिक पी.एफ़. की धनराशि डकार गये, जिसके लिए के.के.सी. में ज़बरदस्त आन्दोलन किया गया, और निदेशक ने हस्तक्षेप कर समस्या सुलझायी।

ज़ोर-ज़बरदस्ती, शोषण की इन्तिहा थी। 'शिक्षक-जागरूकता अभियान' के दौरान पता चला कि वेतन वितरण करते समय शिक्षक के हस्ताक्षर तो देय ग्रेड पर कराये जाते, परन्तु वास्तविक धनराशि बहुत कम दी जाती। जैसे एक सौ बीस रुपये पर हस्ताक्षर करवाये जाते, लेकिन चालीस-पैंतालीस रुपये काटकर उसे अस्सी या पचहत्तर रुपये मात्र पकड़ा दिये जाते – वह भी महीने-दो महीने बाद। प्रबन्धक वेतन वितरण की कुल राशि अपने खाते में जमा कर लेता और उस पर प्राप्त ब्याज अपनी जेब के हवाले करता। शिक्षक कम वेतन पाकर एक गिरवी मज़दूर की तरह घुटकर रह जाता।

नियुक्तियों में भी धाँधली – उच्च अर्हताधारी को जे.टी.सी./सी.टी. में

नियुक्त कर लिया जाता और जूनियर ग्रेड में नियुक्त कम अर्हतावाले अपने किसी परिचित या भाई-भतीजे, नाते-रिश्तेदार को अर्हताधारी शिक्षक की जगह दे दी जाती। सही प्रमोशन के हक़दार को सालों प्रोन्नत न किया जाता। कहीं-कहीं डिमोशन के भी केस थे। सरस्वती, लक्ष्मी, भगवती, यशोदा, नवयुग आदि की शिक्षिकाएँ प्रबन्धक की आसान शिकार थीं।

सआदतगंज स्कूल के प्रबन्धक ने सेलेक्शन कमेटी द्वारा बाक़ायदा चयनित पूर्णकालिक दो योग्य शिक्षकों को पूरे डेढ़ महीने तक विद्यालय ज्वॉइन करने से रोक दिया। उनके पीछे गुण्डों को लगा दिया और विद्यालय रजिस्टर में लगातार अनुपस्थित दिखाकर उस स्थान पर किसी अनुपयुक्त नातेदार को रख लिया। इसी तरह योगेश्वर-ऋषिकुल स्कूल के 'प्रबन्धक-प्रधानाचार्य' द्वारा प्रथम श्रेणी के उत्कृष्ट चयनित दो ग़रीब नवयुवकों को ज्वॉइन नहीं करने दिया। भाड़े पर रखे गये असलहाधारियों ने उनका सामान छीनकर उन्हें दर-दर भटकने के लिए मजबूर कर दिया। डी.ए.वी. के एक शिक्षक को इतना पिटवाया गया कि उसके पैरों की हड्डियाँ टूट गयीं। बख्शी का तालाब में एक ही पद पर दो प्रधानाचार्यों की नियुक्ति कर उनमें प्रतिद्वन्द्वी उन्माद की स्थिति पैदा कर एक-दूसरे का जानी-दुश्मन बना दिया गया – आये दिन ऐसी वर्णनातीत घटनाएँ स्कूलों में घटतीं, जिन्हें शिक्षक मेरे घर बताने रोज़ दौड़े आते। मेरा घर एक प्रकार से नियमित बैठकों का स्थान विकसित हो गया था।

अब शिक्षक संगठित हुआ तो वह तरह-तरह के मानसिक और आर्थिक शोषण के ख़िलाफ़ आन्दोलन का रास्ता अपनाने के लिए तत्पर हो उठा। ज़िला स्तरीय सजग सक्रिय साथियों के निर्देशन में उसने अपने अधिकारों की आवाज़ बुलन्द की।

हमारे गाँव-देहात के सजग साथी आस्था और समर्पण में बहुत आगे थे। मलिहाबाद के ललिताप्रसाद गुप्ता, मटियारी चिनहट के हरिश्चन्द्र श्रीवास्तव, मोहनलालगंज नवजीवन के रामसागर मिश्र, जी. द्विवेदी एवं तेलीबाग़ स्कूल के ख़ूबचन्द गुप्ता व ग्रुप अपने सहकर्मियों की समस्याओं के समाधान के लिए (चाहे घर की हों या स्कूल की) अपना जी-जान लड़ा देते।

शहर क्षेत्र में शिया, क्वींस, एम.डी. शुक्ला, विद्यान्त, मॉर्डन वोकेशनल, महाराजा अग्रसेन, रामाधीन, रस्तोगी, महिला, मोतीनगर आदि शाखाओं के सजग शिक्षकों की एक मज़बूत टीम हर संघर्ष के लिए तैयार थी।

आये दिन शिक्षकों की शाखा स्तरीय, ज़िला स्तरीय प्रतिनिधि टीम लेकर हम प्रधानाचार्य/प्रबन्धकों के घर, ज़िला विद्यालय-निरीक्षक, आर.आई.जी.एस.

तथा प्रबन्धक तक आवश्यकतानुसार समस्याओं के निस्तारण हेतु जा पहुँचते। क्वींस कॉलेज के श्री टी.एस. श्रीवास्तव, एस.एन. मिश्रा, एस.एस. सक्सेना, वाई.के. लाल तथा साथी एक नये तेवर और ताज़गी से भरपूर अपने शोषित शिक्षकों को चट्टान की तरह दृढ़ सुरक्षा देते दिखायी देते।

हमारा प्रतिनिधिमण्डल जानदार, शानदार और बौद्धिक रूप से ठोस होता – क्वींस के एस.एन. मिश्र को तो शिक्षा अधिनियम की ज़रूरी धाराएँ शब्द-ब-शब्द इस तरह याद हो गयी थीं, कि समझौता-वार्ता की मेज़ पर जब वे उसके उल्लंघन का हवाला देते हुए विश्लेषण प्रस्तुत करते और तत्समय धाराप्रवाह मौखिक उन स्थलों को उद्धृत करते, तो निदेशक चकित रह जाते, जबकि उनके क्लर्क चुप या हकलाते रह जाते।

शाखा स्तरीय एकजुट जागरूक शिक्षक ने शोषण-विरोधी आन्दोलन का बिगुल बजा दिया।

लम्बी-लम्बी हड़तालें – एक हफ़्ते से 55 दिन तक की – शिक्षक मज़बूती से डटा रहा। उसका मनोबल ऊँचा रहा। लखनऊ माध्यमिक शिक्षक संघ के बैनर तले क्वींस, एम.डी. शुक्ला, हरिशचन्द्र, कामरेड शिया, करामत, यशोदा, बी.के.टी., चिनहट अहमामऊ, काल्विन, महिला आदि कॉलेजों के शिक्षक कभी प्रबन्धक निवास, कभी जि.वि. निरीक्षक, कभी निदेशक कार्यालय के बाहर धरना, प्रदर्शन, भूख हड़ताल आदि से छेंके रहते।

ए.पी. गुप्ता और साथियों ने पूरे मध्यक्षेत्र और शान्ति बोरकर ने चौक-चौपटिया-नक्खास इलाक़े को मानो मथ डाला।

इस दौरान हम लोगों ने अपने-अपने घरों को जैसे तिलांजलि दे दी। रात में हड़ताली शिक्षकों के साथ ही – जाड़ा, गर्मी, बरसात की कठिनाइयों को झेलते हुए खुले टेण्ट में सभी शिक्षक समूह ज़मीन या तख़्त पर बैठे रहकर बतियाते, जागते और वहीं लुढ़ककर थोड़ा-बहुत सो जाते। फिर तड़के ही उठ जाते और जल्दी-जल्दी अपने घरों को पहुँचते। तुरन्त नहाते-धोते और फटाफट अपने-अपने स्कूलों में पढ़ाने चल देते। जिन शिक्षकों के स्कूल दस बजे या बाद में लगते, वे वहीं रुके रहते। वे क्रमिक अनशन या धरने पर बैठे शिक्षकों की बारी बदलने तक वहीं रहकर, वहाँ की सफ़ाई, व्यवस्था, पर्चे, पोस्टर, माँग पत्रों के कागज़ों की गणना कर उन्हें तरतीब से रख देते। उपस्थिति रजिस्टर नये जत्थे को सौंपते और उस दिन के जत्थे के इंचार्ज को सबकी राय से मनोनीत कर सादर फूलमाला अर्पित कर उस दिन का सारा दायित्व उसे सौंपकर अपने घरों को जाते, और वहाँ से अपने स्कूल... घर में राशन है या नहीं – बच्चे भूखे

या बीमार या गन्दे हैं – उनकी कोई देखभाल कर रहा है या नहीं, हम सभी को इसे देख पाने का अवसर ही न मिलता। पर संगठन बनाने की सोच, व्यवस्था बदलने की काँटों भरी राह जब जीवन की प्रमुखता बन गयी, तो व्यक्तिगत दुख-तकलीफ़ों की शिकायत कैसी? नन्हे-नन्हे बच्चों का बचपन छिने, तो छिने – वे भी हमारे साथ काँटों भरी राह में चलने को मजबूर लहूलुहान हो पिसें, तो पिसें...।

प्रदेश स्तरीय साथियों सर्वश्री ठाकुरदास वैद्य, हरिहर पाण्डेय, मो. आयूब खाँ, हरस्वरूप चौधरी तथा मान्धाता सिंह आदि ने अनेक गोष्ठियाँ आयोजित कीं। विविध कमेटियों में मण्डल से शाखा स्तर तक के प्रतिनिधि शामिल किये गये। शिक्षा की नीति, निजीकरण की ख़ामियों तथा व्यवस्था परिवर्तन सम्बन्धी व्यापक बहसें चलायीं। सम्मेलन किये। ज़िले से लेकर प्रदेश स्तर तक अनेक प्रस्ताव पारित किये गये।

'शिक्षा के राष्ट्रीयकरण', 'समवर्ती सूची में रखने', 'शिक्षा पर कुल बजट का छह प्रतिशत व्यय करने', 'स्कूलों को सरकार द्वारा सवित्त मान्यता प्रदान करने', 'निजी प्रबन्धकों के एकाकी हस्ताक्षरों से वेतन वितरण किये जाने के बजाय ज़िला शिक्षाधिकारी के भी हस्ताक्षर से वेतन प्रदान किये जाने', 'बोर्ड परीक्षा में कापी-मूल्यांकन तथा कक्ष निरीक्षण (करने वाले शिक्षकों की प्रदत्त) राशि में बढ़ोत्तरी', 'सेवायोजन' एवं छुट्टी आदि विविध सेवा-शर्तों में सुधार जैसे अनेक प्रस्ताव शासन-प्रशासन को भेजे गये।

हमारे मूर्द्धन्य शिक्षकों ने मुख्यमन्त्री, वित्तमन्त्री, शिक्षा मन्त्रियों से अनेक मुलाक़ातें कर शिक्षा तथा शिक्षक की दुर्गति की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया।

शिक्षा व्यवस्था जैसे व्यापक जनहित के मुद्दे पर कुछ लोकसभा सांसदों, विधानसभा एवं विधान परिषद सदस्यों ने भी भारत तथा प्रदेश सरकार से चर्चा, बहस और सरकार की नीतिगत जवाबदेही की माँग की। चारों ओर से जब बहुत दबाव पड़ता, तो सरकार एक शिक्षा आयोग गठित करके चुप बैठ जाती। उस आयोग पर हज़ारों रुपये ख़र्च होते, शोध होते, रिपोर्ट भी छप जाती, पर कार्यान्वयन दूर की कौड़ी बनी रहती।

राधाकृष्णन कमीशन, मुदालियर कमीशन, कोठारी कमीशन आदि ऐसे ही आयोग थे। कोठारी कमीशन में कई देशों के प्रोफ़ेसर, विद्वज्जन, अनेक देशों की शिक्षा-व्यवस्था का तुलनात्मक अध्ययन, प्राइमरी से यूनिवर्सिटी स्तर तक कला, विज्ञान, टेक्नोलॉजी के शिक्षण-प्रशिक्षण तथा हर वर्ग के सम्मानजनक

ग्रेडों का विशद उल्लेख था। शिक्षक का सम्मान किसी भी प्रशासनिक पद पर आसीन व्यक्ति से कम नहीं आँका जा सकता, यह सुझाव भी दिया गया था। कोठारी कमीशन में तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों की सेवा-शर्तों को बेहतर बनाने के अनेक सुझाव थे।

प्रदेशीय साथियों ने कोठारी कमीशन कार्यान्वयन की माँग के लिए व्यापक दौरा कर शिक्षकों को संघर्ष के लिए तैयार किया।

वर्ष 1968-69 में ठकुराई जी संघर्ष के संचालक थे। तय हुआ कि मान्धाता सिंह के नेतृत्व में 'जेल भरो आन्दोलन' का पहला जत्था संघर्ष की शुरुआत करेगा। सरकार को भरोसा न था कि शिक्षक इतने सक्रिय और एकजुट रहेंगे। उसे प्रबन्धकों की फूट डालो और भयाक्रान्त करो की शैली पर भरोसा था, पर संगठित संघर्षशील 80,000 सदस्यों में से 30,000 माध्यमिक शिक्षकों ने जेलें भर दीं – करो या मरो की एकजुटता का जज़्बा। लोगों में अपूर्व उत्साह था, लोगों की जबान पर दो ही नाम थे – ठकुराई और कोठारी।

इलाहाबाद के शिक्षक नेता, उत्कृष्ट वक्ता मान्धाता सिंह ने शिक्षक समूह का आह्वान किया। लोग फूलमाला पहने, नारे लगाते हुए अपने-अपने ज़िलों के बैनर लिये क़तारबद्ध हो गये। मैं भागती हुई स्कूल से आयी, शिक्षक-भवन के सामने खड़ी भीड़ को ध्यान से देखा, चारों ओर नज़र घुमायी – 'लखनऊ से जेल भरो आन्दोलन' का जत्था? कहाँ हैं हमारे शिक्षक? कौन प्रतिनिधित्व करेगा? लोग समय देकर भी नहीं आये – भयभीत हैं क्या? यह कैसी स्थिति? यह सोचकर दुख और शर्म से क्षणभर को मेरी गर्दन झुकी, परन्तु तुरन्त ही मैंने फ़ैसला कर लिया और बेझिझक मान्धाता से भी आगे दौड़कर नारे लगाते हुए ट्रक की ज़ंजीर पकड़कर खड़ी हो गयी।

शिक्षा व्यवस्था बदलने के लिए – कोठारी कमीशन लागू करो!

प्रजातन्त्र की स्थापना के लिए – कोठारी कमीशन लागू करो!!

इन्क़लाब – ज़िन्दाबाद। माध्यमिक शिक्षक संघ – ज़िन्दाबाद!

लखनऊ जनपद संगठन – ज़िन्दाबाद!! के नारे मैं तब तक लगाती रही, जब तक पुलिस ने गिरफ़्तार नहीं कर लिया। पत्रकारों का कहना था – कि ऐसा शिक्षक जनसैलाब तो शायद ही विश्व के किसी देश में हुआ हो।

लखनऊ ज़िले से प्रतिनिधि के रूप में पहले दिन, पहले जत्थे में अकेले मैं ही, वह भी महिला, जेल गयी थी – इसकी ख़बर नाम सहित सभी अख़बारों में प्रथम पृष्ठ पर छापी गयी। इस ख़बर ने अन्य विद्यालयों से कहीं अधिक मेरे लालबाग़ स्कूल में हलचल मचा दी।

आन्दोलन ने तेज़ी पकड़ी। जत्थे के जत्थे ज़िला मुख्यालयों पर गिरफ़्तारी देने लगे।

मैं पुरुष शिक्षकों के बृहत् समूह में अकेली महिला – इसकी जानकारी जेलर महोदय को रात दस बजे शिनाख़्त काग़ज़ तैयारी करने पर हुई, तब उन्होंने मुझे मॉडल जेल भेजा, जहाँ मैं अकेली एक हफ़्ते रही।

अब कानपुर से निर्मला प्रधान और बिजनौर से मिथिलेश वशिष्ठ जो कर्मठ नेत्री थीं – ने लखनऊ नेतृत्व के प्रयास से मुझे अपने पास ज़िला जेल लखनऊ में हस्तान्तरित करवा लिया। हमारे साथ अब लखीमपुर की विमला और कन्नौज की कलावती भी आकर जुड़ गयी थीं। हम तृतीय श्रेणी के अपराधी क़ैदियों के साथ ही बन्द किये गये थे। पर हमारा मनोबल बहुत ऊँचा था। ज़िला-जेल की बैरकें ठसाठस भरी हुई थीं – बहुत से पुरुष और महिला शिक्षिकाएँ बॉण्ड भरकर बाहर आ गये। असल में सरकार शिक्षकों का मन डिगाकर आन्दोलन को तोड़ना चाहती थी, और अनेक प्रकार से शिक्षकों को आन्दोलन से विरत करने के लिए जेल से बाहर भेजना चाहती थी। शान्ति बोरकर भी बाहर आ गयीं, पर उन्होंने बाहर आकर ज़िला सँभाला। हमारे सामने अनेक बार प्रस्ताव आये, पर हम पाँचों ने अटूट दृढ़ता का परिचय दिया। हमें किसी भी प्रकार की जमानत, शर्तनामा, बॉण्ड मंजूर न था। संगठन के साथ सम्मानजनक मान्य शर्तों के साथ समझौते और संघ द्वारा हड़ताल वापसी के एलान के बाद ही हम जेल से बाहर आयेंगे – यह हमारा निश्चय था।

इस आन्दोलन का संचालन-स्थल कमोबेश मेरा ही घर बना। पर्चे, पैम्फ़्लेट, डेलीन्यूज़, प्रेस वार्ता, सरकार से समझौते हेतु सम्भावित बिन्दु आदि अनेकविध तैयारियों और सूचनाओं का कार्यभार जे.एन. पाण्डेय ने सँभालने में ठकुराई आदि साथियों की बड़ी मदद की। मेरा घर सबके लिए समान रूप से खुला था। वह सबका घर था। बिल्कुल अपने घर-परिवार की तरह – सजग साथी किसी भी समय मेरे घर/ऑफ़िस आते, सूचनाएँ एवं भावी कार्यक्रम जानते। कभी-कभी समय कम होने पर ज़िलों के साथी अपने गिरफ़्तार साथियों का हालचाल यहीं से प्राप्त कर, आश्वस्त हो, वापस लौट जाते।

मुरली नगर का मेरा यह घर लालबाग़ स्कूल और माध्यमिक शिक्षक संघ के ऑफ़िस के भी पास था। दो कमरे, किचन, बरामदा और ख़ूब खुली लम्बी-चौड़ी छत – मकान ऊपरी मंज़िल पर था। मैं दो साल की अध्ययन-छुट्टी लेकर गोरखपुर से हिन्दी में एम.ए. करके लौटी, तो तिवारी नगर के घर का बिजली-पानी मकान मालकिन ने कटवा दिया था, मेरी

अनुपस्थिति में मेरा एक कमरा भी हथिया लिया, परन्तु लौटने पर उन्होंने मुझे अपने साथ ही रख लिया। ऐसा कब तक चलता, तब हमारी एक छात्रा ने अपना यह घर किराये पर हमें दे दिया। यहाँ मैं आन्दोलन से कुछ पहले ही रहने आयी थी। मेरी बच्चियाँ बुलबुल और मैना क्रमश: सात और पाँच वर्ष की तथा बेटा मात्र दो साल का था।

मैं जेल चली गयी। पाण्डेय जी आन्दोलन के संचालकों में से एक थे। वे अति व्यस्त – ज़िलेभर के लोगों को घूम-घूमकर उत्साहित करते, उनकी समस्या के समाधान हेतु भाग-दौड़ में लगे रहते। अत: छोटी लड़की भय और असुरक्षा का अहसास कर तीव्र ज्वर में ग्रस्त हो गयी। ऐसे में साहसी नन्ही बुलबुल दोनों छोटे भाई-बहनों को समझाती और सँभालती। मेरा यह घर भी सार्वजनिक स्थान बन गया। संघ का (ओ.टी.आर.) ऑफ़िस पास होने पर भी कानपुर, कन्नौज, मेरठ, गोरखपुर, वाराणसी आदि से आये हुए शिक्षक साथी वहीं ठहरते। बातचीत, विचार-विमर्श, गहमागहमी देर रात तक चलती। वे सब लोग बच्चों के चाचा थे। बुलबुल चाचा लोगों को पानी-पत्ता देती। चाय बनाकर पिलाती। उसने महरी की सहायता से रोटी-पराँठा बनाना भी सीख लिया। वे दोनों लालबाग़ प्राइमरी विभाग में पढ़ती थीं। (वे दोनों) अपनी ड्रेस धोकर सुखातीं, सुबह तैयार होकर स्कूल चली जातीं। अन्नू बहुत छोटा था, उसको कुछ दिन के.के.सी. के देवेन्द्र मिश्र ने अपने घर रखा, फिर वाई.के. लाल के समीपस्थ मेरी ननद के घर रहता रहा। मैना कुछ दिन कानपुर में मेरे भाई और बहन के घर रही, बाक़ी समय ठकुराई जी के घर पर रहती रही। बुलबुल को पी. श्रीवास्तव और मिसेज़ अग्निहोत्री, लालबाग़ की शिक्षिकाओं, ने कुछ समय अपने-अपने घरों में रखा, फिर वह पाण्डेय जी के पास अपने घर वापस आ गयी।

सामाजिक कार्यकर्ता के बच्चे समाज की मूल्यवान सम्पत्ति बन जाते हैं – मेरी अनुपस्थिति में हमारे शिक्षक साथियों ने अपने बच्चों की ही तरह इन तीनों को गले लगाया।

जेल प्रवास के दौरान लगभग हर रोज़ अनेक रिश्तेदार व शिक्षक हम लोगों से मिलने आते। मेरी आशा के विपरीत लालबाग़ विद्यालय का तो पूरा स्टाफ़ ही जैसे उमड़ पड़ा हो। दिसम्बर की छुट्टियाँ – फल, मिष्टान्न, पकवान और बहुतायत में केक। बैरकभर में बाँटा, शिक्षक भाइयों को भी।

कोठारी कमीशन कार्यान्वियन, वेतन भत्तों में समानता आदि माँगों की स्वीकृति के बाद सरकार से 4 जनवरी 1969 को समझौता हुआ, तब

प्रदेश-व्यापी हड़ताल वापस हुई। हम जेल से घर आये। 7 जनवरी को जब मैं स्कूल खुलने पर ज्वॉइन करने पहुँची, तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा – अपनी प्रिय 'जेल यात्री' शिक्षिका का किसी विजयी सेनापति के समान अभूतपूर्व स्वागत – स्कूल के सामने वाले नया बाज़ार का हॉल बुक, सजा हुआ गेट – प्रधानाचार्या एफ़. रोल्सटन, शिक्षिकाएँ, छात्राएँ, क्लर्क, कर्मचारी – भीड़ ही भीड़, सब फूलमालाएँ लिये खड़े थे।

अविस्मरणीय सहभोज... मैं घरबार, नन्हे बच्चे-नौकरी को भी दाँव पर लगाये हुए एक महीने से भी अधिक कारा में निरुद्ध रहकर वापस आयी थी। वे सबलोग इससे रोमांचित थे। वेतन वितरण के दिन प्रबन्धिका ने पूरी हड़ताल अवधि का वेतन एक खुशबूदार लिफ़ाफ़े में रखकर सबसे पहले मुझे थमाया। मैनेजर ऑफ़िस के स्टाफ़ के लिए मैं 'शिवाजी' और प्राइमरी की शिक्षिकाओं के लिए 'महाराणा प्रताप' थी।

मिशनरी अब विद्यालय प्रबन्धन छोड़ चुके थे। स्कूल वेतन वितरण अधिनियम के तहत आ चुका था। संविधान की धारा 30 (1) के अन्तर्गत लालबाग़ एक अल्पसंख्यक विद्यालय था। हमारी विज्ञान शिक्षिकाओं को वेतन-वृद्धियाँ मिलीं। डिप्लोमाधारी शिक्षक को अर्ह मानकर उन्हें प्रवक्ता ग्रेड मिला। पुनरीक्षित वेतनमान के तहत अन्तरिम राहत में ग्रेड फ़िक्स हुए। इन सब बातों का छठी से बारहवीं कक्षा तक की शिक्षिकाओं पर गहरा असर हुआ। चर्च समर्थक दो-तीन शिक्षिकाओं को छोड़कर शेष सभी शिक्षिकाएँ माध्यमिक शिक्षक संघ की सदस्य बन गयीं। उन्हें मुझ पर अगाध विश्वास था।

संगठन की शाखा बन जाने पर छोटी-सी भी बात जानने के लिए अब शिक्षिकाएँ मुझे घेर लेतीं – मैं उनकी हितैषी थी, प्रतिनिधि थी।

मेरे साथ जनशक्ति देख – अब प्रबन्धिका को मुझे महत्त्व देने की अपनी ग़लती का अहसास हुआ। उन्होंने मेरे ख़िलाफ़ गुप्त मोर्चा खोल दिया। ईसाई स्कूल में एक ग़ैर-ईसाई साधारण शिक्षिका जनशक्ति का केन्द्र-बिन्दु बन जाये, यह असहनीय था। ईसाई शिक्षिकाओं को चेतावनी दी गयी कि वे संगठन की गतिविधियों में सक्रिय भागीदारी न करें। हेल्पर टीचर के बहाने मेरे साथ एक ईसाई टीचर (जासूस की तरह), जो हर समय मुझे देखे, लगा दी गयी।

प्रबन्धतन्त्र का नज़रिया बदल रहा था – निशाने पर मैं आ गयी थी। शाखा स्तर पर मैंने इस विरोध का मुक़ाबला रचनात्मक कार्य के माध्यम से किया। त्रिभाषा फ़ार्मूले के अन्तर्गत विद्यालय में उर्दू या संस्कृत की सुविधा थी। मैं संस्कृत पढ़ाती थी। मैंने देखा, संस्कृत विषय छोड़कर छात्राएँ उर्दू विषय में

एक-एककर हस्तान्तरित की जा रही हैं, क्योंकि प्रेरित किये गये अभिभावकों ने इस हेतु अर्जियाँ दी हैं। मैंने कक्षा छह की संस्कृत पाठ्य पुस्तक के 25 पाठ डाइरेक्ट मैथड से पढ़ाने का कठिन निश्चय किया। हर पाठ को सरस शैली में सरलीकृत करके पढ़ाने के अनेक अभ्यास किये, फिर आकाशवाणी में जाकर पढ़ाये। ये रेडियो स्टेशन पर रिकार्ड किये गये और मॉडल माने गये। शिक्षाधिकारी के आदेश से त्रिभाषा फ़ार्मूला के अन्तर्गत संस्कृत विषय के इन आदर्श पाठों को जनपद के सभी विद्यालयों में दिन के 11 बजे कक्षा छह के बच्चों को सुनवाना ज़रूरी कर दिया गया। प्रधानाचार्यों को रेडियो ख़रीदने की अविलम्ब अनुमति भी दे दी गयी। दूसरे साल 20 पाठों के अतिरिक्त कक्षा सात के लिए अनुवाद और कक्षा आठ के कुछ पाठ भी रेडियो स्टेशन पर जाकर पढ़ाये – जिनका बच्चों के लिए तत्समय प्रसारण किया गया। मेरी शिक्षण क्षमता ने 'विषय नहीं तो शिक्षक नहीं' की मुहिम असफल कर दी।

मैंने अपनी स्वतन्त्र पहचान और शोषण के विरुद्ध सकारात्मक जंग जारी रखी।

ज़िला स्तर पर होने वाली किसी भी छात्र-प्रतियोगिता में मैं अपने विद्यालय की छात्राओं को भागीदारी हेतु तैयार करके ले जाती। वह डिबेट हो या क्विज़, अन्त्याक्षरी हो या निबन्ध लेखन, नृत्य नाटिका/मूक अभिनय हो या एकांकी या सामूहिक गान। छात्र समूह के साथ एक-दो शिक्षिकाओं को भी जोड़कर ले जाती। हमारी छात्राएँ विजयिनी होकर शील्ड लातीं। लगभग सभी को कम से कम सान्त्वना पुरस्कार तो ज़रूर ही मिलता – ये पुरस्कार प्रधानाचार्या सामूहिक प्रार्थना सभा में शाबाशी के साथ पुरस्कृत छात्राओं को प्रदान करतीं। बच्चे के बहुमुखी विकास में रुचि लेने वाली शिक्षिका के प्रति अभिभावकों का हृदय कृतज्ञता से भर उठता।

कोठारी कमीशन कार्यान्वयन के लिए शिक्षक की जद्दोजहद जारी थी। हमारा प्रगतिशील ग्रुप परिवर्तनकामी था। संघर्ष को आगे बढ़ाने में विश्वास रखने वाला, परन्तु संघ का यथास्थितिवादी ग्रुप ढीली-ढाली पलायनवादी नीति अपनाता, इससे आम शिक्षक में असन्तोष बढ़ता जा रहा था।

1970 में ओमप्रकाश शर्मा मेरठ की शिक्षक सीट पर चुनाव लड़े। जीते। उन्होंने विधान परिषद में वेतन वितरण अधिनियम के लिए एम.एल.सी. के रूप में प्रभावी भूमिका अदा की। वेतन हेतु अनुदान की व्यवस्था स्वीकृत हुई। यह एक जीत थी।

1971-72 में संगठन के चुनावों की घोषणा हुई। प्रगतिशील ग्रुप ने प्रदेशीय अध्यक्ष पद हेतु ओमप्रकाश शर्मा को सर्वसम्मत उम्मीदवार बनाया। उनके प्रतिद्वन्द्वी थे – लखनऊ डी.ए.वी. इण्टर कॉलेज के गणित शिक्षक महेश्वर पाण्डेय। ग्रुप ने मुझे शर्मा जी का इलेक्शन एजेण्ट नियुक्त किया। मुझे संचालन और प्रचार की बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी सौंपी गयी। मैंने ज़िलों को बैनर, पोस्टर, पर्चे और पैम्फ्लेट भेजने के अतिरिक्त व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार द्वारा जीवन्त सम्पर्क स्थापित किया। ज़िले-ज़िले के साथियों ने जुटकर प्रचार किया। शर्मा जी की जीत में कोई शक न रहा।

माध्यमिक शिक्षक संघ को जेबी संगठन बनाकर रखने वाले यथास्थितिवादी मतगणना में लगातार शर्मा जी की बढ़त से बौखला उठे। उन्होंने एक फ़र्ज़ी वोटर लिस्ट प्रस्तुत कर निर्वाचन अधिकारी की ज़बरदस्त घेरेबन्दी कर ली। सहमे निर्वाचन अधिकारी 'विजय-घोषणा' करने से कतराने लगे – पर शर्मा जी ने जनमत की स्पष्ट राय नकारे जाने को बर्दाश्त करने से इन्कार कर दिया। स्थल पर उपस्थित सैकड़ों शिक्षकों ने शर्मा जी को स्वीकारते हुए उनके नेतृत्व में संगठन को आगे बढ़ाने का फ़ैसला लिया। उन्नाव में ग्रुप की कॉन्फ़रेंस हुई। सैकड़ों शिक्षकों की उपस्थिति ने हमारे प्रगतिशील ग्रुप को 'शर्मा गुट' का नाम दिया। शिक्षक-भवन (जो शिक्षकों के चन्दे से निर्मित हुआ था) पर महेश्वर गुट का क़ब्ज़ा था। हम धनहीन, ऑफ़िसहीन थे, पर हमारे पास सजग-सक्रिय साथियों का विशाल बहुमत था।

लखनऊ ज़िला इलेक्शन हुए। मैं जनपद की मन्त्री चुनी गयी। मेरे लिए आराम हराम हो गया।

मेरा घर, सार्वजनिक घर और एक प्रकार से प्रदेशीय ऑफ़िस बन गया। शिक्षक जब चाहे आते-जाते। दूसरे ज़िलों से आये हुए साथी रात में भी रुक जाते। जो सम्भव होता खा-पी लेते। मेरे बच्चों का निजी बाल जीवन जैसे था ही नहीं। लड़कियाँ आगन्तुकों के सत्कार में लगतीं। छोटी मैना नीचे से ढो-ढोकर पानी ऊपर पहुँचाती, कभी-कभी आसपास रहने वाली दूसरे स्कूलों की शिक्षिकाओं को आन्दोलन या कार्यक्रम की सूचना पहुँचाने जाती। हम लोगों की अनुपस्थिति में बुलबुल चाचा लोगों को सादर बैठाती – उन्हें चाय पिलाती और जितनी जानकारी होती सूचना देती। नन्हे बच्चों पर बहुत-बहुत भार था। उनके सकारात्मक सक्रिय सहयोग के बिना शायद मैं इतना कुछ कभी न कर पाती। हर आन्दोलन में हमारे मेधावी बच्चे बहुत बड़ा 'एसेट' रहे।

पुनरीक्षित वेतनमान लागू होने से हमारी समानता की माँग पूरी होती थी। शिक्षकों को इस हेतु फ़ार्म उपलब्ध कराये गये थे, जिन्हें ठीक-ठीक भरकर

ऑफ़िस में जमा करने के बाद ही (शिक्षक का हर कॉलम सही हो तब) उसका नया वेतन-निर्धारण किया जाता। प्रदेश स्तर पर हमारे नेताओं ने भलीभाँति अध्ययन कर पुनरीक्षित वेतनमान की एक पुस्तिका प्रकाशित की। मैंने इसमें दिये गये विभिन्न ग्रेड, स्लैब, इंक्रीमेण्ट, दक्षता रोक, वर्तमान तथा पुनरीक्षित वेतन का अन्तर आदि अच्छी तरह घोख लिये थे। इन फ़ार्मों को भरने में अनेक विद्यालयों के शिक्षक मेरी मदद पाने के लिए देर रात तक मेरे घर बैठकर फ़ार्म भरते। मैं उनकी सहायता करती रहती। इस कारण बच्चों को मैं क़तई न देख पाती। मेरे घर में उन दिनों कई रिश्तेदारों के बच्चे भी आकर रहने और पढ़ने लगे थे। मेरा अतिसंवदेनशील पाँच वर्षीय बेटा अन्नू उनसे दी गयी तकलीफ़ों से क्षुब्ध होकर अपनी बुआ (जिन्हें वह अम्मा कहता था) के पास जा पहुँचा। शाम हो गयी, मैं पूर्ववत व्यस्त थी। मेरे ननदोई घर आये – दुख और क्रोध में तमतमाये हुए। उन्होंने कहा – "अन्नू पाँच किलोमीटर से अधिक का रास्ता तय करके धूल-धूसरित, सूखा मुँह, उदास आँखें और सूजे हुए पैर लेकर अपनी अम्मा के पास सिंगार नगर पहुँचा। उन्होंने उसे चिपका लिया, हाथ-मुँह धुलाकर, कपड़े बदले, नमक के गर्म पानी से पैर सेंके, मालिश की, कुछ खिलाया-पिलाया और अपनी गोद में ही सुला लिया है।" उन्होंने और भी बहुत कुछ कहकर हम दम्पति को ख़ूब लताड़ा – उनके 100 प्रतिशत आरोपों के सामने हम दोनों को मौन हो ग़लती स्वीकारने के अलावा दूसरा रास्ता न था।

उन्नाव कॉन्फ़्रेंस के बाद संघ प्रदेशभर में 'शर्मा गुट' और 'पाण्डेय गुट' दो भागों में बँट गया। ज़िले और उनकी शाखाओं पर भी इसका असर पड़ा। लाल बाग़ 'शर्मा गुट' का सदस्य था। विभाजन से कमज़ोर करने वाली नीति से सर्वथा अप्रभावित। मैं ज़िले की हर शाखा में पहुँचती। मैं शर्मा गुट की ज़िला मन्त्री थी, शर्मा गुट के सदस्य अपनी शाखा का सदस्यता शुल्क और कोई चन्दा मुझे मेरे घर पर आकर भी दे जाते। परन्तु मैं शाखा में सभी शिक्षकों से बिना भेदभाव के मिलती, क्योंकि मेरी दृष्टि में नदी की गतिमान धारा को पत्थर फेंककर अलग नहीं किया जा सकता। किसी भी शोषित शिक्षक की सहायता करने में दल का दलदल मुझे न रोक पाता और शिक्षक/शिक्षिकाएँ भी दल से ऊपर उठकर 'कमला जी' या 'कमला दीदी' से मिलते।

मेरी विश्वसनीयता तथा मेरे सक्रिय साथियों को विखण्डित करने के लिए एक पूरी गुपचुप लॉबी कार्यरत थी। इस लॉबी की सोच थी कि मुझे कमज़ोर या निष्क्रिय बना देने से संगठन कमज़ोर हो जायेगा। तैनात की गयी लॉबी के प्रभुओं का लक्ष्य किसी भी प्रकार संगठन को तोड़ना था। उन्होंने अपने उद्देश्य

में सफलता हासिल करने के लिए मेरे घर-परिवार-बच्चों और हमारे दाम्पत्य जीवन तक में दरार डालने के अनेक प्रयास किये। पाण्डेय जी को पटाया, साथियों को तोड़ने-बरगलाने के कुचक्र रचे और बीमार बच्ची की देखरेख व सेवा से वंचित रखने की अनुचित योजना के कार्यान्वयन में कोई कसर न छोड़ी।

लखनऊ इण्टर कॉलेज, क्वींस और लालबाग़ का समीपस्थ बीच शहर का स्कूल – समस्याओं का घर था। फ़र्श में गहरे-गहरे गड्डे, छत की धन्नियों में चमगादड़ों का घोंसला, बेंचें टूटीं, कुर्सी तीन टाँग की, विज्ञान-लैब नदारद, नल से हर समय पानी बहता रहता, शौचालय की दुर्दशा, शिक्षकों को महीनों वेतन नहीं, लड़कों की फ़ीस जमा करके ज़रूरतमन्द शिक्षक खर्च कर डालते, छात्रों की संख्या हर क्लास में एक-एक, दो-दो रह गयी। प्रबन्धक और प्रशासन कानों में तेल डालकर बैठे हुए – स्कूल बन्दी और शिक्षक की नौकरी समाप्ति के कगार पर। वहाँ के शिक्षक हड़ताल पर चले गये। मैं ज़िला मन्त्री थी। क्वींस के वाई.के. लाल मेरे ज्वॉइण्ट सेक्रेटरी। ज़िलाध्यक्ष महोदय को समस्या-समाधान से अधिक एक 'औरत-मन्त्री' को अक्षम सिद्ध करने में रुचि थी। वे मुझसे बिना मशविरा किये, कभी-कभी तो जानकारी भी न देते, समस्याओं पर विचारार्थ ज़िला कार्यकारिणी की मीटिंगें गुप्त स्थान और बेढंगे समय पर रख देते, ताकि स्थान और सामयिक सूचना के अभाव में कोरम की कमी का बहाना लेकर मीटिंगें स्थगित कर दी जायें। ऐसी ही एक मीटिंग की भनक लगते ही हमारे सक्रिय ज्वॉइण्ट सेक्रेटरी के साथ अन्य साथियों ने सभी कार्यकारिणी-सदस्यों को 'आकस्मिक मीटिंग' की सूचना उपलब्ध करा दी। लोग मलिहाबाद, चिनहट, तेलीबाग़, बख़्शी का तालाब आदि से ट्रेन, स्कूटर, साइकिलों से भागकर आ गये। उसी समय मैं वीपिंग एक्ज़िमा से पीड़ित बुलबुल को लिए पहुँची। डॉक्टर ने चींटियों और मक्खियों से बचाने के लिये उसके हाथ-पैरों में पट्टियाँ बाँध दी थीं – लोग उसे देखकर सिहर उठे – कुछ ही देर में पाण्डेय जी दवा लेकर लौटे और उसे घर ले गये। अध्यक्ष अपने भाषण में कह रहे थे – "लोग मूढ़ हैं जो एक ग़ैर-ज़िम्मेदार, आरामतलब औरत को वोट देकर चुनते हैं, औरतें कहीं ये काम कर सकती हैं।" कार्यकारिणी सदस्यों ने उनसे पूछा – "आपने समय से पहले मीटिंग क्यों रख दी – कार्यकारिणी मीटिंग के लिए तीन दिन का समय निर्धारित है, फिर भी हम सूचना पाकर ही दौड़े आये।" – महोदय से कुछ भी कहते न बना! बीसियों आँखें उनकी मिथ्यावादिता को घूर उठीं –

एक-एक कर दिन बीत रहे थे – समाधानविहीन हड़ताल खिंचती जा रही थी। शिक्षक स्कूल गेट पर तम्बू के नीचे भूख हड़ताल पर बैठे रहते। तब हमारे कार्यकारिणी सदस्यों ने एक स्वर से आन्दोलन तेज़ करने का निर्णय लिया। तय किया कि गेट छोड़कर आन्दोलनकारी शिक्षक, निदेशक कार्यालय के बाहर क्रमिक अनशन पर बैठें, रात-दिन शिक्षक वहीं डट गये। उन्होंने धरना और प्रदर्शनों का ताँता लगा दिया – अन्ततः निदेशक महोदय को शिक्षकों के बीच पहुँच माँगों के कार्यान्यवन का तुरन्त आदेश देना पड़ा। तब जाकर संघर्ष समाप्त हुआ। सभी को वेतन प्राप्ति का आश्वासन मिला।

माध्यमिक शिक्षक संघ के बैनर तले एकजुट शिक्षकों ने संघर्ष के रास्ते पर चलकर ही अनेक उपलब्धियाँ हासिल कीं। शिक्षक नियुक्ति में प्रबन्ध समिति की मनमानी पर रोक, शिक्षक निलम्बन की अवधि साठ दिन सीमित, सत्रान्त तक सेवा करने और वेतन पाने का हक़, चयन समिति की व्यवस्था आदि।

यह संगठित जनशक्ति, शोषक और उनके दलाल तत्वों के लिए एक जिन्न की तरह थी, जिससे छुटकारा पाना उनके लिए ज़रूरी हो गया था।

विधान परिषद में शिक्षक सीट सत्ता-प्राप्ति का ऐसा ही आकर्षक छोटा रास्ता था।

1976 में मैं पुनः ज़िला मन्त्री निर्वाचित हुई। मन्त्री का वोट पार्लियामेण्टरी गठन और विधान परिषद के प्रत्याशी चयन में ख़ास महत्त्व रखता है। ठकुराई जी प्रदेशाध्यक्ष थे। वे चाहते थे, इस बार लखनऊ सीट पर मैं लड़ूँ, और महेश्वर गुट तथा शक्तिशाली निर्दलीयों को हराऊँ। पाण्डेय जी उनकी बात से फ़ौरन सहमत हो गये। पर मेरी दृष्टि में यह दिशा ग़लत थी – सत्ता की व्यक्तिवादी सुविधाभोगी ललक संगठन को कैसे मज़बूत कर सकती है? पर मुझ पर चारों ओर का दबाव पड़ा – मैंने फ़ार्म भर दिया, और वोट डालने के दिन ऑफ़िस पहुँची। वहाँ मेरे सामने प्रेमचन्द की कहानी 'लाटरी' का दृश्य मूर्तिमान था। मैंने अपने मन की बात सुनी – "मैं संगठन के लिए समर्पित हूँ, व्यक्ति के लिए नहीं।" मैंने संगठन को वोट दिया, अपने को नहीं। बाराबंकी के सुरेश सक्सेना को टिकट मिला। टिकट से वंचित लॉबी तत्वों ने तब ब्राह्मण बनाम कायस्थ की जातिवादी हवा फैलाकर सुरेश जी को मेरे ख़िलाफ़ किसी हद तक कर पाने में सफलता पा ली। उन्होंने चुनाव सम्बन्धी अपना कोई भी पर्चा ज़िलाध्यक्ष एम.पी. दुबे और मुझे नहीं दिया। पर मैंने इन बातों से अप्रभावित रहकर पूरे एक महीने की अवैतनिक छुट्टी लेकर एक-एक वोटर से सम्पर्क किया। दुबे जी ने भी कोई कसर न छोड़ी। संगठन के प्रत्याशी श्री

सुरेश सक्सेना जीते, अफ़वाह झूठी सिद्ध हुई और तोड़क-शक्तियाँ एक बार पुनः पराजित हुईं।

वर्ष 1975, कांग्रेस नीतियों के ख़िलाफ़ श्री जयप्रकाश नारायण की समग्र क्रान्ति लहर देशव्यापी होने लगी, तो प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी ने एमरजेंसी लगा दी। विरोधी जेल में ठूँस दिये गये। ज़बरदस्त सेंसरशिप। सर्वत्र भय का वातावरण।

1977 में आपातकाल समाप्ति के साथ ही चुनावों की घोषणा हुई। उत्पीड़न से क्षुब्ध जनमानस ने शासिका को हरा दिया। कांग्रेस पार्टी बर्ख़ास्त थी। सत्ता के सर्वोच्च पदों पर जनता पार्टी क़ाबिज़ थी। यह असहनीय था। पुनः शासन पाने की पल-पल बढ़ती तड़प ने पूँजीवादी खेल की बिसात बिछायी। शह और मात, मात और शह।

'शर्मा गुट' के नेतृत्व को मोहरा बना लिया गया। गुपचुप समझौता – उन पर सत्ता में भागीदारी और व्यक्तिगत लाभ की सुखद कल्पना हावी हो गयी। वचन पूरा करने के लिए संगठन को दाँव पर लगाना मजबूरी बन गयी।

2 दिसम्बर, 1977 – जनता पार्टी का शासन। माध्यमिक शिक्षक संघ की ओर से सत्ताइस सूत्री माँग-पत्र प्रस्तुत किया गया। साथ ही माँगें पूरी न करने पर सरकार के ख़िलाफ़ आन्दोलन की चेतावनी।

'जेल भरो आन्दोलन और हड़ताल' शुरू हो गये। ज़िले-ज़िले का निष्ठावान कार्यकर्ता अपने विश्वसनीय, प्रिय नेताओं के एक इशारे पर आग में भी कूदने को तैयार खड़ा था – नेता की आँखों में चमक और होंठों पर मुस्कान खिल उठी। रात के अन्धकार और भोर के उजास के बीच एक झीना पर्दा... बाज़ी चली जा चुकी थी – दिशा बदल रही थी –

उत्तर प्रदेश की राजधानी में श्री ठकुराई ने सीतापुर की जुझारू नेत्री माया चौधरी को नेतृत्व की बागडोर थमायी।

सैकड़ों शिक्षक जेल गये। शिक्षिकाओं ने दूध पीते बच्चों सहित गिरफ़्तारी दी। बुर्क़ा पहने अनेक मुसलमान शिक्षिकाएँ भी पीछे न रहीं।

दिन पर दिन बीतते जा रहे थे, पर समझौते का कहीं अता-पता नहीं। हड़ताल लम्बी खिंचने लगी, शिक्षा मन्त्री ने कुछ माँगों के कार्यान्वयन का आश्वासन दिया, पर हमारे नेतृत्व को समझौते की स्थिति समझ में न आयी। शासन ने शिक्षकों को जेल से रिहा कर विद्यालय ज्वॉइन करने की अपील की। उसी अनुपात में आन्दोलन की धार तेज़ कर दी गयी। मन्त्री ने 27 में से 20 माँगें तक स्वीकार कर समझौते की पेशकश की। परन्तु हमारे नेताओं की दृष्टि

में यह सम्मानजनक समझौता न था।

शिक्षकों का मनोबल टूटने लगा। अनेक शिक्षकों ने प्रबन्धतन्त्र के भय से विद्यालय ज्वॉइन कर लिये। अन्दर की लॉबी संगठन को घुन की तरह खा रही थीं। इस लॉबी के लोग एक ओर कॉलेज रजिस्टर में जाकर हस्ताक्षर करते, दूसरी ओर हड़ताली शिक्षकों के रजिस्टर में भी हस्ताक्षर करके माइक पर तेज़-तर्रार भाषण पिलाते। इस दोहरे चरित्र का शिक्षकों पर बहुत बुरा असर पड़ा।

सरकार ने हड़ताल वापसी होते न देख छात्र-हित में कोर्ट का आदेश प्राप्त कर लिया कि "5 जनवरी और 9 जनवरी 1978 तक ड्यूटी ज्वॉइन न करने वाले शिक्षकों की सेवाएँ समाप्त हो जायेंगी, और शिक्षा विभाग एवं प्रबन्धक को उनके स्थान पर वैकल्पिक शिक्षकों की नियुक्ति का अधिकार होगा।"

लखनऊ में ए.पी. गुप्ता, शान्ति बोरकर, वेद कुमार शास्त्री तथा कुछ अन्य साथियों ने नेताओं की समझौताविरत हठधर्मी नीति पर शंका प्रकट करते हुए कोर्ट के आदेश का अनुपालन किया। महेश्वर गुट ने भी कोर्ट के आदेश का अनुपालन कर विद्यालय ज्वॉइन कर लिया। थोड़े से निष्ठावान कार्यकर्ताओं ने संगठन द्वारा बाक़ायदा हड़ताल वापसी के पहले विद्यालय ज्वॉइन नहीं किये। उनके विरुद्ध विकल्प रखे जा चुके थे।

अन्ततः 13 जनवरी को आन्दोलन जनता को समर्पित कर हड़ताल वापसी का एलान हुआ।

संगठन टूट गया। लॉबी ग्रुप ने निष्ठावान शिक्षकों के विरुद्ध अपनी पत्नियाँ विकल्प के रूप में लगवा लीं। हड़तालतोड़क सफल रहे – निष्ठावान असफल। हर शाखा में वैमनस्य, असंवाद, व्यंग्य से छलनी करने वाली तक़रारें और दरार...

दृढ़, संघर्षशील शिक्षक अब नौकरी बचाने के लिए विद्यालय प्राचार्य, प्रबन्धक, शिक्षाधिकारी आदि तक पहुँचकर उनकी चिरौरी कर रहे थे, गिड़गिड़ा रहे थे। घूस दे रहे थे। व्याकुल, परेशान, शिक्षक अपने नेताओं को ढूँढ़ रहा था। पर संगठन के बड़े नेता मानो भूमिगत हो गये हों। दीन-हीन छलनी बना शिक्षक अकेला चौराहे पर खड़ा था –

1980 में चुनाव हुए। पाँसे सही थे। जनता पार्टी पराजित हुई। कांग्रेस पुनः सत्ता में लौटी। इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधानमन्त्री बनीं।

गोरखपुर में माध्यमिक शिक्षक संघ का सम्मेलन – इन्दिरा गाँधी मुख्य अतिथि थीं। उनका अभूतपूर्व स्वागत और अभिनन्दन किया गया। अतिथि ने हमारे सक्षम नेता को सम्बोधित करते हुए कहा – "आपने संकट के समय हमारी मदद की है, इस अहसान को मैं भुला नहीं सकती।" कांग्रेस नेत्री ने "भौतिक चिन्ताओं से मुक्त रखने के लिए" श्री ओमप्रकाश शर्मा तथा उनके छह मनोनीत समर्थकों को सत्ता में तुरन्त भागीदारी का आश्वासन दिया। यह पूँजीवादी संजाल था।

गुपचुप समझौते की बात उजागर होते ही सम्मेलन वितण्डावाद का अखाड़ा बन गया। प्रतिनिधिगण संकीर्ण स्वार्थ के लिए महान संगठन को गिरवी रखने की नीति से असहमत थे। वे संगठन को बुर्जुआ राजनीतिक दलदल से अलग रखने के हामी थे। आक्रोशित शिक्षकों का एक वृहत् समूह 'शर्मागुट' से अलग होने के लिए उद्धत हो गया; परन्तु मान्धाता, ठकुराई आदि साथियों ने समझा-बुझाकर स्थिति को सँभाला।

फ़ौरी तौर पर टूट के बादल छँट गये।

पूँजीवादी दृष्टिकोण में निस्वार्थ दया या दान का कोई स्थान नहीं – वहाँ 'एक हाथ दे, दूसरे हाथ उससे ज़्यादा ले' की नीति होती है।

कांग्रेस प्रशासन ने – "भौतिक चिन्ताओं से मुक्ति" की मुहिम शुरू कर दी। तीन अतिरिक्त मँहगाई भत्ता की किश्तें घोषित हुईं। माध्यमिक शिक्षा परिषद के चुनाव में सभी 22 सदस्य संगठन के प्रत्याशी विजयी घोषित किये गये। कक्षा-पाठन और स्कूल-हाज़िरी से इन्हें छूट मिल गयी। प्रबन्धक, प्रशासन, व्यापारी वर्ग से मधुर सम्बन्ध, ग्लैमरस आतिथ्य सत्कार और उपहार। अब सब कुछ भूल गये नेता लोग...। उपहारों के अम्बार में से निकलने वाले ज्योति मण्डल की प्रभा में 'व्यक्ति' विचरण करने लगा। वह ऊँचा और ऊँचा और ऊँचा होकर 'विशिष्ट वर्ग का प्रतिनिधि' बन गया। बना लिया गया।

गोपाल द्वारकाधीश बनकर ब्रज में लौटा है क्या?

मैंने देखा – पहले की तरह ज़िले-ज़िले से शिक्षक अपने अनेक विविध कामों, समस्याओं को लेकर अपने नेतृवर्ग से मिलने दौड़ा आता। वह बाहर खड़े होकर या वहीं कहीं ज़मीन पर बैठकर उसकी प्रतीक्षा करता रहता, लेकिन नेता अपनी मोहक घेरेबन्दी को तोड़कर बाहर न निकलता –

थक-हारकर शिक्षक दर-दर भटकने और धक्का खाने के लिए चला जा रहा था अकेला – अनैतिक घूस की राह पर मजबूर – प्रशासन का फ़रमाबरदार क्लर्क उस अदना पर हावी था।

इतिहास लगभग ख़ुद को दोहरा रहा था। संगठन बौना हो गया था।

1981-82 में उत्तर प्रदेश में चुनावों की घोषणा हुई। कांग्रेस-शासन था। सभी विद्यालयों में जनतान्त्रिक प्रशासनिक योजना लागू हुई। सामूहिक बीमे की

धनराशि बढ़ाकर 25 हज़ार रुपये कर दी गयी। मकान भत्ते की समानता और पारिवारिक पेंशन की सुविधा भी।

अब देने की बारी आयी, प्रदेश के मुख्यमन्त्री और प्रधानमन्त्री के निर्वाचन क्षेत्रों में हमारे नेता को पैदल घर-घर पहुँचकर राजनीतिक दल-विशेष का प्रचार करना था। संगठन की स्वतन्त्र नीति छीनकर उसे सत्ताधारी दल ने अपना मातहत बना लिया। संघर्षशील मानसिकता गिरवी हो गयी। यह ऐतिहासिक ग़द्दारी थी।

इलाहाबाद सम्मेलन में गोरखपुर से भी अधिक हंगामा हुआ। लोकतान्त्रिक पद्धति में विरोध एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता स्वस्थ विकास की दिशा मानी जाती है, परन्तु इस सम्मेलन में जनप्रतिनिधियों को बलपूर्वक बोलने से रोक दिया गया। बौद्धिक शक्ति पर शारीरिक शक्ति और धनशक्ति का क़ब्ज़ा हो गया – फूहड़ प्रदर्शन और तथाकथित दादागीरी से खिन्न समूह ने सुनील मुखोपाध्याय और सुरेश सक्सेना के नेतृत्व में अलग गुट बना लिया। इनका नारा था – 'शिक्षा बचाओ, संगठन बचाओ'। इस बार टूट नहीं बची। 'संगठन बचाओ' नाम पर कई ज़िलों में इसकी शाखाएँ बन गयीं। लखनऊ में रामसमुझ वर्मा ने अपने विद्यालय सेण्टीनियल इण्टर कॉलेज में पाण्डेय और शर्मा गुट के अलावा एक और 'संगठन बचाओ' गुट बना लिया। चश्मदीद गवाह के रूप में वे इलाहाबाद हंगामे से अति क्षुब्ध थे।

1982, फ़रवरी-मार्च का महीना। विद्यालय जाने की तैयारी में थी कि चिन्तित स्वर में एक फ़ोन आया – "दीदी, हमारे विद्यालय की किराये की इस बिल्डिंग में ताला लगा दिया गया है। सैकड़ों लड़कियाँ और हम सब नाली के किनारे खड़े हैं। सारा फ़र्नीचर, रजिस्टर, सर्विस बुकें, पंखे, अलमारियाँ, कापियाँ आदि सामान निकालकर फेंक दिये गये हैं – बताइये, अब हम लोग क्या करें? कहाँ जायें?"

मैंने तत्क्षण हाथ का काम छोड़ दिया, पाण्डेय जी को ब्रीफ़ किया, कपड़े बदले और रिक्शा लेकर बीस मिनट के अन्दर ही घटनास्थल पर पहुँच गयी। पता चला, स्कूल ख़ाली कराने का मुक़दमा चल रहा था। विद्यालय प्रबन्धक (आर्य समाज द्वारा नियुक्त प्रशासक रघुनाथ लाल) ने मकान मालिक से लम्बी घूस लेकर पुलिस (प्रशासन) फ़ोर्स द्वारा उन्हें क़ब्ज़ा दिला दिया है, और अब वह शहर से बाहर है।

निम्न मध्यम वर्ग के बच्चों और निरीह अध्यापिकाओं के साथ इतना बड़ा धोखा – ऐसा शोषण – सैकड़ों लड़कियों की पढ़ाई बन्द, बीसियों शिक्षिकाओं

की नौकरी समाप्त, उनके सारे रिकॉर्ड तहस-नहस... यह अन्याय असहनीय था।

मेरे सामने न घर था, न बच्चे, न स्कूल, न शर्मा-पाण्डेय गुट, न ही पैसा और न कोई पद – मेरे सामने एकमात्र लक्ष्य था – विपन्नों को बचाना। मैंने तुरन्त फेंकी गयी एक टाटपट्टी बिछायी और वहीं पर शिक्षिकाओं को बिठाकर धरना शुरू कर दिया। मैंने नारा लगाकर उन्हें आश्वस्त किया कि 'सरस्वती विद्यालय यहीं लगेगा, यहीं लगेगा।' शिक्षिकाओं ने बोर्ड पर यही नारा लिखकर सड़क पर आने-जाने वालों को अपना उद्देश्य बता दिया। छात्राएँ भी धरने पर बैठ गयीं। कुछ शिक्षिकाएँ दूसरे स्कूलों में घटना और धरने की सूचना देने पहुँच गयीं।

इस बीच पाण्डेय जी ने सरस्वती विद्यालय की घटना सम्बन्धी सूचना-पत्र लिखा, उसे साइक्लो कराया, ग्रुप के साथियों से सम्पर्क किया और उनके द्वारा विधानसभा के सभी गेटों पर चालू सत्र में जाने वाले विधायकों को वह पत्र (मैटर) उपलब्ध करा दिया। विधायकों ने इस चिन्तनीय स्थिति पर सदन में चर्चा और प्रशासनिक जवाबदेही की माँग की – विद्यालय सवित्त मान्यता प्राप्त, वेतन वितरण अधिनियम के अन्तर्गत था।

मैं वहाँ से भागकर अपने विद्यालय पहुँची। इस समय विद्यालय प्रधानाचार्या मिसेज़ जे. मालवीया थीं – अत्यन्त रोबदाब वाली कट्टर प्रशासिका – मैंने उन्हें वस्तुस्थिति बतायी, तो वे बौखला उठीं – "जाइये इस्तीफ़ा देकर सरस्वती में ही जाकर रहिये।" मैंने तुरन्त लम्बी छुट्टी की अर्जी लिख दी। उन्होंने समझ लिया कि नौकरी की बनिस्बत शिक्षिकाओं की आवाज़ मेरे लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है।

शाम होते-होते एक-दूसरे से ख़बर पाकर शिक्षकों का एक बड़ा हुजूम आ डटा। परन्तु मेरे पास इसका कोई उत्तर न था कि ज़िला अध्यक्ष पीताम्बर भट्ट, मन्त्री चन्द्रकान्ता सक्सेना और कोषाध्यक्ष शान्ति बोरकर धरना-स्थल पर क्यों नहीं हैं?

दो दिन बीत गये, ज़िले के पदाधिकारी नदारद। दूर गाँव-देहात तक के, सभी गुटों के शिक्षकों की भीड़ जुट गयी। लोगों ने मंच बना लिया – मैं चिन्तित हो उठी, पीड़ित शिक्षिकाओं की सुरक्षा हेतु शिक्षक समुदाय मेरे आह्वान पर एकत्र हो गया है, मैं स्वयं तो औपचारिक रूप से कोई पदाधिकारी हूँ नहीं – यदि भीड़ अनियन्त्रित हो जाये? या दिशाहीन कर दी जाये – तो?

मेरी परेशानी का ठिकाना न रहा – मेरे गुट को मुझ पर भरोसा क्यों नहीं?

अगर किसी यूनिट ने संकटापन्न स्थिति में गुहार लगायी, तो मैं क्या करती? संगठन के भरोसे ही तो मैंने उन सबों को सुरक्षा का भरोसा दिया। सड़क पर दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को डॉक्टर के आने से पहले उठाकर एक किनारे खड़ा कर देनेभर का काम तो किया है मैंने।

फिर मैंने तय कर लिया – पीड़ितों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। शोषण के ख़िलाफ़ इस जंग में सबको जुड़ना होगा। मैंने व्यापक जनहित में ओमप्रकाश को भी अप्रोच किया।

वे इस अवसर पर तुरन्त आये और शिथिल प्रशासन को चेतावनी दी। शिक्षक जनसमूह को सरस्वती की कमज़ोर-वर्ग छात्राओं और शिक्षिकाओं के रक्षार्थ आगे बढ़ने का आह्वान किया। उन्हें सरकार से समर्थन मिलने का पूरा भरोसा था।

उस समय प्रदेश में कांग्रेस की सरकार थी, और गृहमन्त्री थीं – नारी की भूतपूर्व प्रधानाचार्या श्रीमती स्वरूप कुमारी बख्शी।

'सरस्वती आन्दोलन' इस समय प्रशासनिक अधिकारियों, विधानसभा, विधान परिषद के दोनों सदनों तथा अख़बारों में चर्चा का विषय बना हुआ था।

आन्दोलन ज़िले के स्तर से आगे बढ़कर ओमप्रकाश के हाथों प्रदेश स्तरीय बनते देख ज़िलाध्यक्ष पीताम्बर भट्ट और मन्त्री चन्द्रकान्ता अब और अधिक आँखें मूँदे न रह सके। खिन्न मन शान्ति जी और चिन्तित अध्यक्ष मन्त्री अपने गुट के साथियों के दबाव से धरना-स्थल पर पहुँचे। उन्होंने इसे ज़िला स्तरीय संघर्ष कहकर स्वीकारा और लगातार शिरकत की।

लगातार धरना, भाषण और क्रमिक अनशन के बाद भी जब प्रशासन की नींद न टूटी, तो शर्मा जी के आह्वान और पूरी जनपद के एकजुट शिक्षकों ने आन्दोलन को और तेज़ कर दिया। सड़कें नाप-नाप ज़िले की जनता को अपने अकारण उजाड़े जाने की व्यथा सुनाने के अलावा वे क्या करते? विशाल जुलूस नरही से विधानसभा की ओर चल पड़ा।

शासन ने समस्या समाधान की नीति को दरकिनार कर दमनकारी नीति अपनायी। शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर आँसू गैस और लाठियों से प्रहार किया गया।

अनेक शिक्षक आँसू गैस से गिरकर चोटिल हुए, कई लाठी के प्रहार से ज़ख़्मी। मैं भी आँसू गैस की लपेट में आकर गिर गयी, और सिर पर हल्की चोटें लगीं। छोटी-छोटी छात्राओं तक को पुलिस ने नहीं बख्शा। कांग्रेस-मन्त्री ने सत्ता पुनर्प्राप्ति के कारक ओमप्रकाश शर्मा का इस न्यायिक संघर्ष में साथ नहीं

दिया। यह कांग्रेस का दोहरा चेहरा था।

इस अन्याय के ख़िलाफ़ क्रोध से तमतमाये शिक्षकों ने ज़िलेभर के विद्यालयों का कामकाज ठप कर दिया। तीन दिन तक ज़बरदस्त हड़ताल रही।

सरकार की ओर से ख़ैर, चोटिल शिक्षकों का सिविल अस्पताल में इलाज कराया गया। अन्ततः प्रशासन ने हस्तक्षेप कर हमारे नेताओं से बात की, समझौता हुआ। सरस्वती का ताला खुला। विद्यालय वहीं लगा। ज़िलेभर के समस्त हड़ताली शिक्षकों को हड़ताल अवधि का वेतन देना तय हुआ।

इस आन्दोलन में सभी गुटों के शिक्षक शामिल थे।

इस समस्त प्रकरण का निशाना प्रशासन ने मुझे बनाया। प्रशासनिक अधिकारी आर.आई.जी.एस. ने मुझे दण्डित किया। जनपद के शिक्षकों को समझौते के अनुसार वेतन दिया गया, पर मुझे अपमानित और प्रताड़ित करने के लिए हड़ताल अवधि का वेतन काटकर, तब बिल बनाने का आदेश हमारी प्रधानाचार्या को दिया गया। यह आदेश उनके मनोनुकूल था। उन्हें 'ब्रेक ऑफ़ सर्विस' का मौक़ा मिला। महोदया ने आनन-फ़ानन अनेक दिनों के मेरे हस्ताक्षरों पर लाल पेन से अपने हस्ताक्षर कर 'ए' लिख दिया।

प्राचार्या की इस मनमानी और ओवर राइटिंग में प्रशासन को कोई बुराई नज़र नहीं आयी, क्योंकि दोनों के दमन के रास्ते एक थे।

हमारी शाखा-सदस्याएँ भी अपना-अपना वेतन लेकर चुपचाप अपने में सिमट गयीं। परन्तु ज़िलाध्यक्ष पीताम्बर भट्ट और मन्त्री चन्द्रकान्ता को यह अन्याय सहन नहीं हुआ। इन दोनों ने इसका घोर-विरोध किया। उन्होंने शाखा सदस्यों का प्रबोधन किया, जिन्होंने प्रबन्धक को 'क़लम बन्द-हड़ताल' का नोटिस भेजा।

शोषण और अन्याय के ख़िलाफ़ दृढ़ता से खड़े अध्यक्ष-मन्त्री ने प्राचार्या की स्वेच्छाचारिता के प्रति आर.आई.जी.एस. के अपने कर्तव्य के प्रति लापरवाही और समझौता उल्लंघन का आरोप लगाया। अपने कर्तव्य पर लगे आरोप और जनप्रतिनिधि के दबाव पर झुककर आर.आई.जी.एस. ने प्रधानाचार्या को तुरन्त तीन दिन का मेरा पूरक वेतन बिल बनवाने का आदेश दिया, और हाथ के हाथ बिल पास कर मुझे हड़ताल अवधि की धनराशि मुहैया करायी।

कहना न होगा कि इन दोनों के सामयिक दृढ़ क़दम ने अन्याय, अपमान और शोषण के विरोध की जंग में फ़तह हासिल की।

संघर्षशील व्यक्ति या जुझारू संगठन सत्तासीन शासक के आँख की किरकिरी होता है। उसे मिटाना या तोड़ना ही उसका लक्ष्य हो जाता है। 1984

के विधान परिषदीय चुनाव में गोरखपुर शिक्षक सीट के सक्षम प्रत्याशी ठकुराई जी को टिकट नहीं दिया गया। एक तीर से कई निशाने – अपमान से तिलमिलाये लोकप्रिय नेता निष्क्रिय हो जायें, जुझारू ज़िला पस्तहिम्मत हो और संगठन इस धक्के से टूट-बिखर जाये। तोड़क शक्तियों का अचूक निशाना सफल रहा।

मेरा हृदय महान संगठन को टुकड़े-टुकड़े में बिखरते देख रो रहा था।

मैंने अपनी यूनिट को बिखरने नहीं दिया, जहाँ रहे, एकजुट, एक निष्ठ – मैंने अपनी शाखा को गुपचुप लॉबी के प्रयास द्वारा विखण्डित किये जाने के हर प्रयास को असफल कर दिया। शिक्षिकाओं ने खुली किताब की तरह मेरे एकरूप चरित्र को देखा था – उन्हें मुझ पर विश्वास था, मेरे पीछे चलती थीं – मेरी पूरी यूनिट ठकुराई गुट की सदस्य थी।

लेकिन धीरे-धीरे सभी गुटों के शिक्षक नेताओं के लिए विधान परिषद में पहुँचना एक नशा बनता गया – सीटों की घोषणा होते ही आँधी की तरह कार्यकर्ताओं की सेवकाई और जोड़-तोड़ की महारत शुरू हो जाती। ज़िला स्तरीय मन्त्रियों को पटाने में हर हथकण्डा अपनाना जायज़। सफलता न मिलती, तो अलग ग्रुप, अलग लॉबी, अलग फ़ोरम, अलग पहचान, अलगाव और निन्दा का कार्यक्रम शुरू हो जाता, फिर बाक़ी समय सन्नाटा...

महेश्वर नहीं रहे, पर उनका गुट चालू है। उनके 'महेश्वर गुट' नाम को जिन लोगों ने वारिस बनकर हथिया लिया, केवल इसलिए कि उस नाम को उपलब्धियों में बदला जा सके।

ठकुराई ने आँखें बन्द कर लीं, तो 'ठकुराई गुट' भी हो गया निष्क्रिय, निष्प्राण... मिशनरियों के प्रबन्धन छोड़ने के बाद भारतीय ईसाई सोसाइटी वारिस बनी। ग़ैर-सरकारी सहायता प्राप्त अल्पसंख्यक लालबाग़ की ख़ूब बड़ी, लम्बी-चौड़ी ज़मीन और बहुविध मूल्यवान सामग्री सोने की मुर्गी-सी दिखायी देने लगी। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए प्रबन्धतन्त्र में ज़बरदस्त छीना-झपटी शुरू हो गयी। ज़मीन बिकी। भवन के हिस्से छिने। विभाग बदले और घटे। मिशनरियों की निःस्वार्थ सेवा का उत्साह व्यक्तिगत लाभ और विद्यालय को धनप्राप्ति का ज़रिया बनाने की मुहिम शुरू हो गयी।

जीवन की इस सन्ध्या बेला में मैं दुख और हैरत से देख रही हूँ माध्यमिक शिक्षकों के इस विशाल संगठन को कि इसकी दशा आज क्या हो गयी है?

समाज का सबसे अधिक पढ़ा-लिखा माना जाने वाला तबका, महान बुद्धिजीवी वर्ग जो युग बदल सकने का दम-खम रखता है, नयी पीढ़ी का

प्रेरणा स्रोत बन सकता है, समाज की तार-तार हुई सड़ी-गली व्यवस्था की मुख़ालफ़त कर सकता है, गुलाम-मानसिकता को जड़ से उखाड़ने की आवाज़ बुलन्द कर सकता है, वह चाहे तो समता की बयार और नया सूर्योदय ला सकता है, पर आज वह धनपतियों की चाकरी में डूबा है। पाँच अंकों में वेतन पाकर वह परम आत्मकेन्द्रित हो चुका है। अब सत्ताधीशों को प्रसन्न रखना ही उसका जीवन है, लक्ष्य है। बाक़ी समाज के प्रति उसकी कोई प्रतिबद्धता नहीं रही। निर्बल वर्ग उसका अपना नहीं – समाज के बाल श्रमिक, निरक्षर बच्चों से उसे कोई सरोकार नहीं। दो जून की रोटी का जुगाड़ करने वाले दर-दर भटकते फुटपाथी मज़दूरों से उसे क्या लेना-देना – इन सबकी लड़ाई उसकी लड़ाई नहीं है।

वह भूल गया और सत्ताधीशों व धनकुबेरों द्वारा लगातार भुलवाया जा रहा है कि आज जो कुछ भी उसे मिला है, वह क़दम-क़दम, इंच-इंच लड़ी जाने वाली उसकी लड़ाई से ही मिला है। आज उपलब्ध सेवा-शर्तें उसके संघर्षों का फल हैं। सामूहिक एकजुटता का अर्जित प्रतिफल है।

साथियो, हमें याद रखना होगा कि सामाजिक बदलाव की लड़ाई से जुड़े बिना हम अपनी लड़ाई जीत नहीं सकते। जनमुक्ति संघर्ष से अपने को अलग करके केवल अपनी आर्थिक सुविधाओं-माँगों के लिए लड़ना ऐतिहासिक विश्वासघात है। हमें मानसिक आज़ादी की लड़ाई में भी जुटकर जूझना होगा। हमें सावधान रहना होगा – यदि हम एकांगी रह गये, तो दीमक की तरह चट कर लिये जायेंगे। हमें कोटि-कोटि निर्बल वर्ग को अपने साथ जोड़कर आगे आना होगा। माध्यमिक शिक्षक संघ के बैनर तले नवनिर्माण का शंखनाद फूँकना ही होगा, ताकि समाज की क्रूर व्यवस्था बदली जा सके।

साथियो, इस अभियान में मैं भी अन्तिम साँस तक अपनी शेष ऊर्जा आप सबके सहयोग से 'नयी पीढ़ी निर्माण' पर व्यय करने के लिए कृतसंकल्प हूँ।

सभी साथियों को मेरी अनेक शुभकामनाएँ,

साभिवादन,

आपकी साथी,
(कमला पाण्डेय)

हमारा अरविन्द

(श्रद्धांजलि)

अरविन्द के न रहने की खबर सुनकर ऐसा लगा जैसे एक और 'अन्नू' (अनुराग) मुझसे छीन लिया गया – मैं दोनों शिथिल हाथ फैलाये देख रही हूँ, और मेरा बेटा मुझसे दूर, बहुत दूर मुझसे छूटता चला जा रहा है, इस दुनिया को छोड़कर अलविदा कहता हुआ...

मेरे अरविन्द ने तो अभी प्रौढ़ता की दहलीज पर कदम भी नहीं रखा था। इतनी-सी उम्र में अरविन्द व्यक्ति से बढ़कर एक धुरी बन गये। बहुआयामी कामों की एक संस्था... लेखक, अनुवादक, सम्पादक, वक्ता, संगठनकर्ता और इन सबसे अधिक थे प्रिय साथी – मोहक, सौम्य, अपनेपन का एहसास कराने वाले विश्वसनीय, ईमानदार – तुम्हारे विचार, तुम्हारे छोड़े हुए अधूरे काम अतीत के क्रान्तिकारी साथियों की याद दिलाकर झकझोर रहे हैं, दिल को, दिमाग को – मानो पूछ रहे हैं मित्रो, युवाओ, वर्तमान और आगामी बच्चो! वतन को राह दिखाओगे? छूटे हुए मिशन को आगे बढ़ाने की ज़िम्मेदारी सँभालोगे?

आण्टी

कमला पाण्डेय

सम्पादक – अनुराग बाल पत्रिका

(26 जुलाई, 2008)

ऐसे थे वे दिन – मनोत्सव

ज्यों-ज्यों रात गहराती, मैना के पेट में उठने वाला दर्द भी। तीखे दर्द से निढाल हुई वह गहरी नींद का पाला जैसे ही छूती, दर्द का सोंटा झकझोरकर बेहाल कर देता...

इस नींद और दर्द के क्रम में मिनट से घटकर सेकेण्डों का अन्तर रह गया, तो लगभग तीन बजे उसे लेबररूम ले जाया गया।

रात लगभग दस बजे बिन्दू आयी – शालीन, चुस्त, सेवाभाव की प्रतिमूर्ति-सी युवती। बिन्दू कृष्णा के घनिष्ठ मित्र सिंघला की पत्नी, दो छोटे बच्चों को घर पर छोड़कर मैना के सहायतार्थ अस्पताल आ गयी थी।

नर्स के जाते ही हम दोनों भी उसके पीछे-पीछे भागकर लेबररूम के बाहर एक बेंच पर बैठ गये। लेबररूम – संसृति के इस द्वार पर नवागन्तुक शिशु के स्वागत और शुभकामना के भाव सँजोये हमारे नेत्र और कान टकटकी लगाये थे... घण्टा, मिनट और सेकेण्ड खिसक रहे थे बेकल प्रतीक्षा में...

मैं न जाने कहाँ खोयी हुई थी कि अचानक बिन्दू ने किलकते हुए मेरा हाथ खींचा... "आण्टी जी, बच्चे के रोने की आवाज़... सुनी आपने?"

उसने एक हाथ से दरवाज़े को इंगित किया, दूसरे निमिष हाथ-घड़ी पर नज़र डाली – "आण्टी, पाँच बजकर दस मिनट..."

पूरे शरीर में खुशी की एक लहर दौड़ गयी। आलिंगनबद्ध हमारा उल्लास एकाकार था। एक-एक पल कक्ष खुलने की प्रतीक्षा में विकल था।

10 अप्रैल का प्रभात विहँस उठा था। झुटपुटा छँटकर धीरे-धीरे लालिमा को स्थान देता जा रहा था। शिशु-सूर्य तरु शिखरों के झुरमुट से प्रकट होने का उपक्रम कर रहा था।

हमने कक्ष में प्रवेश किया। शान्त, क्लान्त, दुर्बल-सी दुहिता – मैंने हल्के से मत्थे पर हाथ रखा, प्रसव वेदना निवृत्ति की थकान – आँखें झपक गयी थीं।

पास में ही पालने में थी चमत्कार-सी भव्य, निसर्ग-सिद्ध-सृष्टि... गौर वर्ण, नन्हे पतले गुलाबी होंठ, भरे-भरे गाल, गोलाकार आकृति, दिपदिपाता

मस्तक, मुट्ठीबन्द कोमल कलाइयाँ...

बिन्दू की आँखें हँस उठीं – "आण्टी! कितनी सुन्दर?..."

आनन्द से भरे मेरे कल्पनाशील मन में एक कौंध-सी उठी, श्रद्धास्था मूर्तिमान दीखी – यह नवजात शिशु, यह असाधारण कलिका क्या सिद्धिदायिनी शक्ति है? जिस शक्ति ने मेरी मैना का आँचल अब तक सिद्धियों (सफलताओं) से भरा है, वही तो यहाँ साकार है। यह सिद्धि ही है – स्वयं सिद्धा... आठ सिद्धियों में (अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व) प्रथम – अणिमा...

एक क्षण के लिए वत्सल-प्रेम में डूबी मेरी आँखें बन्द हो गयीं। अपार गतिवाला मेरा मन क्षणांश में न जाने कहाँ-कहाँ घूम आया। उसने अतीत के कुछ पन्ने पलट दिये। आज से 23 वर्ष पूर्व 13 मई 1962 – पहली के बाद दूसरी भी पुत्री जन्मी। पुत्र प्रेमी समाज की भौंहों पर बल पड़ गये। घनिष्ठतम एकदम मौन, उपेक्षा की दृष्टि... अस्पताल के सारे भुगतान कर अकेले ही अस्पताल से बच्ची को लेकर घर आ गयी। यहाँ मिला नीरस, बोझिल-सा वातावरण... माँ की ममता ने दुरदुरायी गयी को कसकर अपने आगोश में समेट लिया – तेरे लिए मेरा आशीष है, तू पढ़े, तू बढ़े, तू अपनी मेधा से समाज को चमत्कृत कर... तू यशस्विनी हो, मेरे दिल का टुकड़ा, मेरी अपत्या...

पितृसत्तात्मक समाज – शिक्षा भी व्यापक अन्धविश्वास को न तोड़ पायी, जन के मन को विज्ञान से न जोड़ पायी। आज भी नारी यहाँ दोयम दर्जे की नागरिक है – मेरा संघर्षशील मन चीख़ उठा...

मेरी बेटी। जन्म पर क्या वश? पर ज्ञान के क्षेत्र में तुम दोयम न रहना – परिश्रम तुम्हारे हाथ में है।

और मेरी मैना – के.जी. से एम.ए. तक कहीं भी सेकेण्ड नहीं रही। एक के बाद एक उसने कई सोपान पार किये, सभी में फ़र्स्ट। उसने घर, बाहर, पुरजन, परिजन, मेधावी साथी, सबको पराजित कर एम.ए. में 'गोल्ड-मेडल' प्राप्त किया। उचित समय पर स्वयं ही अपना जीवन-साथी चुना। प्रथम साक्षात्कार में ही विश्वविद्यालय-शिक्षण हेतु चुनी गयी। सुखद दाम्पत्य जीवन, दोनों का कर्मक्षेत्र एक, नये ढंग से स्वतन्त्र जीवन की शुरुआत की और आज – दम्पति को प्राप्त पहला सफल उपहार यह अपरूप कली...

मैंने नवजात का नाम नर्स के पूछने पर 'अणिमा' बता दिया।

सूर्य का ताम्रवर्णी गोला अब नीलाकाश में कुलाँचे भरने लगा। हरी घास पर ओस की बूँदें नन्हे मुक्ताहारों-सी फैल गयीं। बूँदों पर पड़कर झिलमिलाती किरणें और अधिक लम्बी होने लगीं। प्राणदायिनी प्रभात वायु मन्थर गति से

चल रही थी। गगन से धरा तक स्वर्णाभा फैल गयी। निर्झर से झरते प्रकाश ने जगत में एक इन्द्रजाल-सा फैला दिया – चतुर्दिक बिखरा पड़ रहा था मुग्धकर सौन्दर्य...

परन्तु मुझे लग रहा था कि –

विविध गन्ध, कूजन से पूरित
विकसित यह उद्यान-पुरन्दर
जुही, चमेली, चम्पा, कदली
लता-पत्र, गुलाब बहु सुन्दर –
पर मुझको जो मोह रहा है,
प्राणों में रस घोल रहा है
मन को बरबस खींच रहा है
बाँध रहा है –
मनुज-फूल – यह सबसे सुन्दर
नन्ही कलिका, प्यारी अणिमा
मेरी चीनू सबसे सुन्दर
सबसे सुन्दर।।

और 10 अप्रैल 1985 मेरे लिए उत्सव का दिन बन गया। तब से हर साल का 10 अप्रैल मेरा मनोत्सव है।

स्वप्न के धरती पर उतर आने का दिन...

पहला अतिथि

दस बज रहे थे, नन्हे बच्चों को छोड़कर बिन्दू रातभर अस्पताल में रही थी, मैंने उसे घर भेज दिया।

कुछ ही समय बाद नवजात को किसी इन्फ़ेक्शन के कारण आई.सी.यू. ले जाया गया। कृष्णा के तो जैसे होश उड़ गये। वे बच्ची के उपचार, दवा, इलाज, डॉक्टरों से परामर्श करते वहीं सन्नद्ध हो गये।

मैना को प्राइवेट वार्ड मिल गया। लेकिन उसे पेशाब न होने की समस्या से जूझना पड़ रहा था। मैं व्यग्र थी, मैना को उबला पानी, चाय, दूध तुरन्त मिलना चाहिए। मेरी नज़रें बार-बार दरवाज़े पर जाकर छूँछी लौट आतीं... इस मौक़े पर किसी भी रक्त-सम्बन्ध ने आने की आवश्यकता महसूस नहीं की।

विवशता में मैना को अकेले वार्ड में छोड़कर मैं घर से सामान लाने दौड़ पड़ी। मॉडल टाउन बहुत दूर न था। वार्ड से निकलकर मैं कुछ दूर सीधे चली, फिर आने वाले दो-एक मोड़ों पर भ्रम का शिकार हो गयी... मुझे हर विभाग एक-सा लगने लगा – मैं रास्ता भूल गयी, और रातभर की थकान व गर्मी से पसीना-पसीना होते बाहरी गेट न पा सकी, वह भूलभूलैया बन गया – लेकिन शीघ्र ही मेरी संकल्प शक्ति लौट आयी, मार्ग दिखा और मैं तेज़ क़दमों से चलकर गेट से बाहर निकली, मॉडल टाउन का रिक्शा किया और घर आ गयी।

पहली मंज़िल पर घर। शान्त, एकान्त, अलग ज़ीना और गेट, कहीं कोई हस्तक्षेप नहीं, ख़ूब हवा, रोशनीवाला, खुली साफ़ बाल्कनी, दो-चार ज़ीने चढ़कर अच्छी खुली लम्बी-सी छत...

गेट के बाहर सड़क के दोनो ओर युक्लिप्टस के ऊँचे-ऊँचे लहराते पेड़... उधर बाल्कनी के नीचे खण्डहरनुमा भूभाग जिस पर सूखे पेड़ों की पत्तियाँ शय्या-सी बिछी रहतीं। यहाँ कभी-कभी सप्तरंगी पंखों को फैलाकर थिरकता हुआ मोरों का जोड़ा दिखायी दे जाता। कुछ दूर पर थोड़ी-सी झुग्गियाँ बनी हुई थीं, जिनके बीच में आँगननुमा मैदान था। इसमें मज़दूरों के बच्चे धमा-चौकड़ी मचाते। औरतें हैण्डपाइप चलाकर कपड़े धोतीं, पानी भरतीं, एकाध नहाती हुई

भी दीख जाती। कुछ ग़रीब औरतें फटे-मैले चिथड़े लपेटे उपले पाथते दिखायी देतीं।

मैंने ज़ीना चढ़कर ताला खोला और हाथ धोकर तुरन्त अजवाइन का पानी उबलने चढ़ा दिया। जल्दी-जल्दी अस्त-व्यस्त घर ठीक किया। फ़्रेश होकर नहायी। चूल्हे पर दूसरी ओर दूध और चाय चढ़ा ही रही थी कि दरवाज़े पर दस्तक हुई। मैंने समझा, सावित्री जी आयी होंगी, परन्तु जैसे ही दरवाज़ा खोला, मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा – सामने मनोज खड़े थे।

मेरे बड़े दामाद, इनकी नौकरी तो गोरखपुर में सराया इण्डस्ट्री में थी, अचानक यहाँ? कहते हुए मेरी आँखों में प्रश्न गहराया! मन्द मुस्कान, मनोज ने मेरे पैर छुए और कहा - "नहीं आ सकता?" वे मैना को देखने आये थे।

मनोज ने अस्पताल ले चलने वाले दूध, चाय, पानी, कपड़े, स्टोव, कुछ बर्तन आदि सामानों को सहेजने, रखने में त्वरित गति से बहुत मदद की। और मैं रिक्शे पर सवार एक बच्ची की तरह मानो किसी अभिभावक के साथ जा रही थी। मुझे रास्ता भूलने की इस समय कोई चिन्ता न थी। मनोज ने मैना से मिलकर उसका हालचाल पूछा, बधाई दी। आवश्यकतानुसार अपेक्षित मदद की बात कही, कृष्णा से भी मिले।

इसी समय सिंघला और एकाध मित्र भी वार्ड में आ गये थे। 'चीनू' को कई दिनों तक इंटेंसिव केयर यूनिट में रखा गया।

मनोज नवजात शिशु को आशीर्वाद और मैना-कृष्णा को बधाई देने वाले पहले नातेदार अतिथि थे।

अन्नू का पत्र

अन्नू ने मैना को पुत्री उपलब्धि पर मज़ेदार पत्र लिखा –

बधाई और उल्लास के साथ ही हास्य-व्यंग्य, चिढ़ाने, खिझाने, गुदगुदाने और कार्टून-कला का परिचय देने वाली ऐप्लिक से भरपूर...

उसके एक अंश में था – "मैना! तुम कितनी चण्ट हो, स्वार्थी भी – मैं सोचता ही रह गया, किन्तु तुमने अपने ही नाम के अक्षरों (अल्फ़ाबेट्स) को उलट-पुलटकर अपनी लड़की का नाम अपना ही रख लिया – Anima & Maina."

उसमें दो कार्टून आकृतियाँ बनायीं – एक छोटी दूसरी बड़ी... छोटी के नीचे कैपिटल लेटर्स में लिखा 'ANIMA' और बड़ी के नीचे लिखा 'MAINA' इसी प्रकार बड़ी के नीचे 'माँ' और छोटी आकृति के नीचे 'बेटी' दौड़ते हुए दिखायी। कार्टूनों की आकृति हँसाने वाली बनायी गयी थी, नीचे लिखा भी गया...

ही... ही... ही... हू-हू-हू

लिफ़ाफ़ा खोला, पत्र निकाला, चकित हुई मैना। पत्र पढ़कर खूब हँसी। उसने कहा – "अन्नू का दिमाग़ भी खूब है – मैंने तो कभी ऐसा सोचा भी नहीं। मेरे दिमाग़ में यह बात आती भी नहीं..."

कुछ दिनों बाद अणिमा का नाम बदलकर उसने तनिमा घोषित कर दिया। स्कूली नाम तनिमा और प्यार से पुकारने का नाम (मेरा ही दिया हुआ) चीनू ही रहेगा। अन्नू और मैना में ऐसी ही बौद्धिक नोंक-झोंक चलती रहती थी।

रस-सिद्ध कृष्णा

कृष्णा हौले से बच्चे हो उठा लेते। कभी-कभी आम का मीठा रस उँगली में लेकर चटा देते। वह चटकारे लेकर, गोल-गोल आँखें घुमाकर रससिक्त करने वाले हितैषी पिता को देखती। केले के कुचले हुए पके मीठे गूदे को चाव से खाती – कभी-कभी चम्मच वाले हाथ को नन्ही मुट्ठी में भर लेती... वात्सल्य विलोड़ित माँ का पर्याप्त दूध पीकर बच्ची परितृप्त थी, स्वस्थ थी। वह दिन-दिन विकसित हो रही थी।

कृष्णा फल-प्रेमी थे। वे घर को खाद्य पदार्थों से विपन्न न रहने देते। वे ब्रेड और बन्स के अलावा और भी खाने-पीने की चीज़ें ले आते। खूब सारे फल – पीले-पीले आड़ू, खूब मीठे बैजनी रंग के आलू बुखारा, गुच्छ की गुच्छ रससिक्त लीचियाँ, सेब, केले, अंगूर, देशी दसहरी, सफ़ेदा लँगड़ा कई तरह के आम – वे आमों को निचोड़कर बढ़िया हरियाणवी भैंस के उपलब्ध दूध को डालकर मिल्क-शेक बनाते और पिलाते... मैना का स्वास्थ्य भी अच्छी देख-रेख और खान-पान से खूब अच्छा हो गया था। मिठास भरा माहौल...

मेरी छुट्टियाँ ख़त्म हो रही थीं। अवैतनिक छुट्टी का भी नियम था। स्कूल ज्वॉइन करने की तिथि बार-बार चेतावनी दे रही थी। मैना को भी विश्वविद्यालय की नयी नौकरी में पैर जमाने और आगे बढ़ने के लिए अधूरी पी-एच.डी. पूरी करनी ज़रूरी थी, अतः उसने भी लखनऊ में कुछ दिन रहकर दत्तचित्त हो लखनऊ स्थित गाइड वी.के.एस. की उपलब्धि में पी-एच.डी. पूरी कर लेने का फ़ैसला लिया। जाड़ा शुरू हो गया था, चीनू भलीभाँति बैठने, घुटनों पर चलने के अलावा अब कुछ-कुछ खड़े होकर चलने का भी प्रयास करने लगी थी।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है...

बुज़ुर्ग-बच्ची

मैना ने यूनिवर्सिटी ज्वॉइन कर ली थी। कभी कृष्णा-मैना नाश्ता करने के बाद साथ-साथ निकलते, कभी डॉक्टर साहब को जल्दी होती तो मैना अकेले ही चली जाती।

मुझे लगता थकी-माँदी मैना आकर खाना बनाये और मैं चीनू को देखने का निष्क्रिय बहाना बनाकर बैठी रहूँ। मेरा वात्सल्य भरा हृदय कर्मठ दुहिता को अधिक से अधिक सहयोग करने, आराम देने के लिए विकल हो उठता। मैंने कई दिन महसूस किया कि दूध पीकर सो जाने के बाद बच्ची एक-दो घण्टे तक नहीं उठती। इस बीच मैं खाने का सरंजाम कर लेती।

एक दिन घर में कोई भी सब्ज़ी न थी। न नीबू, न दही, न सलाद, न कोई तरकारी। मैंने चटपट झोला उठाया, पैसे रखे, चीनू के चारों ओर तकिये लगा दिये, मसहरी लगा दी और ताला लगाकर सब्ज़ी लाने दौड़ पड़ी। आनन-फ़ानन समीपस्थ दुकान से आलू, लौकी, टमाटर, खीरा, नीबू और धनिया-मिर्च लेकर आ गयी। घर से दस क़दम की दूरी पर चौड़ी सड़क और सड़क के मोड़ पर ही सब्ज़ी-सामानों की दुकानें – आने-जाने और सामान लाने में कुल दस मिनट से कम ही लगते।

वापस आकर मैंने देखा, बच्ची बड़े ही सुख की नींद सो रही थी। मैंने चटपट सब्ज़ी छील-काटकर छौंक दी। दूसरी ओर दाल चढ़ा दी। आटा गूँधकर रख दिया। चावल धोने जा रही थी, तभी यूनिवर्सिटी से मैना लौट आयी। मैं चीनू के पास ही बैठकर सलाद काटने लगी... हवा ने बच्ची को माँ की सुगन्ध और आहट दे दी थी...

एक बार और ऐसी ही परिस्थिति में मैं अकेले घर में चीनू को छोड़, बाहर से ताला लगाकर सब्ज़ी लेने चली गयी, लेकिन इस बार चीनू कच्ची नींद में जाग गयी, वह पहले धीरे-धीरे फिर चीख़-चीख़कर रोने लगी। मैंने अपनी समझ में क़तई देर नहीं लगायी – चटपट सामान लेकर लम्बे क़दमों चलकर जीने पर आ पहुँची, पर यह क्या? चीनू जाग गयी और रो रही है – मेरे प्राण नखों में आ गये, क्या हो गया? ताला खोला, झोला रखा और बोलते, दुलराते

हुए उसे देखा, गोद में उठाया – न उसने गीला किया था, न बिस्तर में कोई सिकुड़न या चुभन... पानी भी वह नहीं पी रही थी। मैं उसका सिर, पैर, पेट, पीठ सभी कुछ सहलाती रही। गोद में लिये कन्धे पर लगाकर थपकी देती रही, हाथों में झुलाती रही, पर वह चुप नहीं हुई, हाथ थकने लगे, झुनझुनाने-से लगे – तब मैंने किंचित क्रोध में उसे लिटा दिया और गाल में हल्की-सी चपत लगायी – "बेबात रो रही है, जितना रोना हो, रो ले," मेरा यह अप्रत्याशित व्यवहार ऐसा हुआ, जैसे किसी समझदार बड़ी लड़की से कह रही होऊँ, मैं पास ही बिछी चटाई पर धम्म से बैठ गयी – दूसरे ही क्षण मेरा मन तीखे अपराधबोध से ग्रसित हो उठा –

यह क्या? अबोध को मारा... और आत्मग्लानि से झरझर आँसू बहने लगे – बहते रहे...

उधर चीख़-चीख़कर रोने वाली बच्ची परम शान्ति से मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी, जैसे विजय गर्व से फूलकर कह रही हो – "जाओ मैंने तुम्हें क्षमा किया, तुम्हारी प्रताड़ना तुम्हीं को लौटा दी," अपराजेय बच्ची ने मुझे भावनात्मक दृष्टि से हरा दिया था, इस क्षण वह बुज़ुर्ग बन गयी थी, और बुज़ुर्ग नानी बच्ची की तरह रो रही थी...

बारबी जैसी नन्ही चीनू

चीनू और मैना स्वस्थ होकर घर आ गयीं। नन्ही चीनू हम सबके लिए एक खिलौना थी।

मैं उसके नन्हे-नन्हे हाथ-पैरों में मालिश करती। उसके छोटे से मुलायम बिस्तर को सहेजती, जो मैं उसके लिए अपने साथ लायी थी। उसके इस्तेमाल किये हुए कपड़ों, छोटे-छोटे नैपकिंस को धोकर फिर डिटॉल के पानी में डुबो निचोड़कर बन्दनवार की तरह सज्जित क्रम से फैला देती।

दन्त-चिकित्सक पिता के लिए नन्ही शिशु 'बारबी गुड़िया' की तरह प्यार और आकर्षण का केन्द्र थी। वे अस्पताल जाने से पहले बच्ची की मालिश किये जा चुकने पर किचन के चौड़े से वाशबेसिन के किनारे बेबी सोप और गुनगुना पानी रखवाकर खड़े हो जाते – वे बच्ची को अपनी ख़ूब लम्बी, चौड़ी, सुपुष्ट हथेली पर अँगूठे के सहारे पेट के बल लिटा लेते, जो दर्शनीय था, फिर दूसरे हाथ की उँगलियों से सिर, गर्दन, पीठ और पैरों में साबुन लगाते। मैं कन्धे पर बच्चे का तौलिया रखे मग्गे से हल्की धार में गुनगुना पानी डालती जाती, उसी प्रकार पलटकर पीठ के बल करके उसकी गर्दन, पेट, कमर और घुटनों पर स्पंजी स्पर्श की कोमलता किसी कलाकार से कम न लगती। मुँह, नाक, आँख और जिह्वा की सफ़ाई बच्ची को अनख की जगह शायद गुदगुदा जातीं – वह चीं भी न करती।

मैं नहायी-धोयी बच्ची को तौलिया में लपेटकर कमरे में ले जाती – कपड़ों और बिस्तर पर हल्के पाउडर के छिड़काव से भीनी ख़ुशबू फैल जाती, वह कपड़े पहनते-पहनते चीख़ने-रोने लगती, क्योंकि भूख लग जाती। इस बीच मैना भी स्वयं को स्वच्छ कर दूध पिलाने को तैयार हो रहती, दोनों माँ-बेटी हल्के पंखे की हवा में लेटी रहतीं। चीनू पलंग या पालने में लेटी एकदम बारबी गुड़िया-सी लगती। मैं चटपट घर ठीक-ठाक कर नहाने जाती। कृष्णा कभी नाश्ता करके, कभी केवल गर्म दूध ही पीकर मरीजों की ड्यूटी पर चले जाते।

कृष्णा को फल तथा खाने-पीने की चीज़ें लाने का बहुत शौक़ था,

लेकिन उनको सहेजने या सामान रखने के कण्टेनर आदि लाने की ज़रूरत महसूस न होती। उनके बजट और डिक्शनरी से यह हिस्सा ग़ायब रहता।

शादी के समय मैना को अनेक ज़रूरी वस्तुएँ तथा उपहार मिले थे – अलमारी, बिस्तर, कपड़े, ज़ेवर, डाइनिंग व टी सेट्स, प्रेस, मिक्सी, हॉट-कूल कण्टेनर आदि-आदि लेकिन रोहतक के इस घर में एक पुराना बक्सा व मेज़, दो फ़ोल्डिंग पलंग, दो हल्की दरियाँ, चादरें और एक चटाई – बैठने के लिए मात्र दो प्लास्टिक-बिनी कुर्सियाँ ख़रीदी थीं। डॉक्टर दम्पति ने निशातगंज में अपने माता-पिता को ही सब कुछ सौंप दिया और स्वयं दोनों ख़ाली हाथ चले आये।

गृहस्थ जीवन की इनकी ऐसी ही शुरुआत हुई।

लगभग तीन महीने की होने आयी 'बारबी गुड़िया' कभी गोल-गोल आँखें घुमाती, कभी पैर फटकारती, फिर मन्द-मन्द मुस्कुराती। जिधर-जिधर मैना जाती, उसकी आँखें उसी ओर घूम जातीं। वह माँ के आँचल को मुट्ठी में भर लेती, और आँचल छूटते ही पुक्का फाड़कर रोने लगती। वह अपने बिस्तर, पालने या चादर को मुट्ठी में भर लेने के बाद ही सुरक्षा महसूस करती – वरना रोती ही रहती, बस रोती ही जाती – रोने वाली बारबी...

पी-एच.डी. – एक त्रासदी

निराला नगर के मेरे घर में पाण्डेय जी, अन्नू, पढ़ने के लिए घर में रहने वाले परिजनों के बच्चे एवं आने-जाने वाले अन्य लोग... यहाँ चीनू की भली-भाँति देख-रेख और हाथों-हाथ रखे जाने की सम्भावना, लखनऊ विश्वविद्यालय अति निकट, गाइड का घर भी समीपस्थ। पाण्डेय जी स्वयं कुछ समय पहले ही अंग्रेज़ी-प्रोफ़ेसर पद से रिटायर हुए थे। वे लोकप्रिय भी थे, अतः मैना ने यहीं रहकर अपनी पी-एच.डी. पूरी करने का निश्चय किया।

वह पूरे मनोयोग से काम में जुट गयीं, लेकिन सोच के अनुरूप पी-एच.डी. थीसिस आसान न थी। एक-एक चैप्टर, बल्कि पैराग्राफ़ पूरा करने में दाँतों पसीना आ जाता। कभी वी.के.एस. शहर से बाहर चले जाते, कभी लिखे हुए को पूरा-पूरा काट देते, कभी अपेक्षित पुस्तकें उपलब्ध न होतीं... कभी वह इतनी थकावट महसूस करती कि रोने लग जाती।

चीनू एक क्षण के लिए भी अपनी माँ को न छोड़ती। मैना के इधर-उधर होते ही वह बेतहाशा रोने लगती। मैना ड्राइंग रूम में बिछे तख़्त-दीवान के मुलायम बिस्तर पर उसका छोटा बिस्तर बिछाकर उसे बैठा देती, पानी की बोतल और खिलौने भी वहीं रहते, कोई न कोई वहाँ मौजूद रहता। वह अच्छी तरह गर्म कपड़े पहने अपने कम्बल के कोने को पकड़कर जब ज़रा खेलने लगती, तो मैना चुपके से यूनिवर्सिटी के लिए चल देती... दूसरे ही क्षण उसे आभास हो जाता, तो वह खिलौने छोड़ चीख़-चीख़कर रोने और माँ को पुकारने लगती। वह किसी की गोद स्वीकार न करती, मचल-मचल जाती, बस पुक्का फाड़कर बड़े-बड़े आँसुओं से रोती रहती। लोग उसे घेरे रहते, बहलाते – कुछ देर बाद सुबक-सुबककर कम्बल के कोने को माँ का आँचल समझ कसकर पकड़े रहती, फिर दूसरे हाथ का अँगूठा चूसने लगती और धीरे-धीरे सो जाती। मैं स्कूल में सारे दिन चीनू के बारे में सोचती रहती और घर आते ही उसके लिए सन्नद्ध हो जाती।

पी-एच.डी. की थीसिस तैयार करना मैना के लिए एक त्रासदी बन गयी। उसका विषय 'इकोनॉमैट्रिक्स' ऐसा दुरुह था कि बिना जानकारी वाला कोई भी

उसकी मदद न कर पाता, फिर भी उसके पापा ने जिस रूप में भी सम्भव था, उसकी मदद की। मैना कठिन संघर्ष करती रही, उसने हार नहीं मानी। उसने महादेवी के इस कथन को सत्य कर दिखाया कि –

'अन्य होंगे चरण हारे
और हैं जो लौटते, दे शूल को संकल्प सारे।'

उसने कण्टकों को कुचलकर मुस्तैदी से क़दम आगे बढ़ा दिया और थीसिस पूरी कर ली।

चीनू की पहली वर्षगाँठ

ज्यों-ज्यों समय बीतता, मेरा हृदय 10 अप्रैल के लिए ललक उठता। इस 10 अप्रैल को चीनू की पहली वर्षगाँठ खूब धूमधाम से मनायी जायेगी।

मेरे मन में न जाने कितनी योजनाएँ, कितने विचार बनते – तय करना मुश्किल हो गया, क्या करूँ-क्या नहीं? बहरहाल, मैंने शानदार वर्षगाँठ मनाने की तैयारियाँ शुरू कर दीं। बिस्तर, कपड़े, बच्चे के खिलौने, प्रीतिभोज के खाद्यान्नों की लिस्ट, घर ख़ासकर हॉल और कमरों की सजावट का सामान, लोगों को आमन्त्रित करने की लिस्ट और तरह-तरह के कामों के बँटवारे का प्लान भी हर समय मेरे मन में उठता रहता।

मैंने गोदरेज की आलमारी का ऑर्डर दे दिया। बच्ची के लिए नन्ही-नन्ही बजनी पायलें, चाँदी की गिलसिया, कटोरी और चम्मच भी ख़रीदी। कुछ और छोटे-छोटे स्टील के बर्तन भी। व्यापक भोज होगा, इसलिए हलवाई भी तय कर लिया।

खुशी और उत्साह का वातावरण – घर के लड़के, मैना-बुलबुल की दोस्तें, मेरी सहकर्मी साथिनें, जोशी व दुबे परिवारीजन सभी गुड़िया-सी सजी चीनू को देख-देख प्रसन्न थे। सभी सादर निमन्त्रित थे, सभी आये।

उमा लाल ने 'हैप्पी बर्थ-डे चीनू', 'जन्मदिन मुबारक़' के ख़ूब बड़े कलात्मक लेखन में गोलाकार पोस्टर हॉल-कमरे के सामने वाली दीवार पर चिपकाये। पूरा हॉल मैना की मित्रों ने तरह-तरह के गुब्बारों, झण्डियों, घण्टियों और झालरों से सजाया। लड़कों ने गेट से बाहर और लॉन व बग़ीचे को रंग-बिरंगी विद्युत झालरों से सजाया।

ख़ूब बड़े केक और मोमबत्ती के अलावा मैंने फूल-माला, अक्षत और रोली का तिलक व गुलगुले भी तैयार कर रखे थे।

मैना की गोद में चढ़कर चीनू ने केक काटा – चारों ओर तालियाँ, गुंजायमान स्वर व खिलखिलाहट सुरीली प्रतिध्वनि-सी फैल गयी। मैंने रोली का टीका किया और पुष्पाक्षत के साथ आलमारी भेंट की। फिर तो उपहारों का ताँता लग गया... जो अलमारी में सजा दिये गये।

खाने का आयोजन – जैसे किसी सामान्य शादी का भोज हो। गुड़िया-सी सजी चीनू मौसी की गोद में चढ़ी खीर की बूँदें और एकाध दाने तो टूँग लेती, लेकिन किसी छोटे से भी मेवे के टुकड़े के मुँह में पहुँच जाने पर उँगली से निकालकर पूरा मुँह सान लेती... अब वह उँगली पकड़कर या स्वयं ही चलने लगी थी। सिर पर लाल रिबन से बँधी दो छोटी-छोटी चोटियाँ हवा में लहरा उठतीं... उसकी दौड़-भाग और शरारतों से अजीब शोभा देने वाली उसकी छवि निहारते रहने को जी करता...

कुछ दिन बाद ही परीक्षाएँ आसन्न होने के कारण मैना रोहतक लौट गयी। चीनू की अलमारी और उसके अनेक उपहार उसी में बन्द यहीं रखे रहे। मैना थोड़ा-सा ही सामान लेकर गयी।

सचमुच चीनू की प्रथम वर्षगाँठ अविस्मरणीय रही...

स्नेहिल चीनू

मैना ने चीनू को क्रेच में भर्ती करा दिया। जितनी देर वह यूनिवर्सिटी रहती, उसे कहाँ छोड़ा जाता, अतः घर से बाहर निकलने पर मैना/कृष्णा उसका दूध-पानी, टॉनिक और कुछ कपड़े लेकर उसे क्रेच में छोड़ देते। फिर लौटते हुए अपने साथ लेकर मैना घर आ जाती। पहले तो उसने बहुत उत्पात मचाया, फिर कुछ संगीत वाद्यों की ध्वनि, आकर्षक झूलों और बच्चों की सामूहिकता में धीरे-धीरे रमने लगी।

मैना ने मॉडल टाउन का घर बदल लिया था, अब वह जहाँ रहने आयी थी, वह शहर के बीच में था। घर ऊपरी मंज़िल में – जिसमें एक कमरा बड़ा, फिर छत की दूसरी ओर छोटा कमरा, जिसे कृष्णा ने 'कबाड़-रूम' बना लिया था। छत के अन्तिम छोर पर कई ज़ीने नीचे उतरकर एक और कमरा था, जिसे इन लोगों ने ड्राइंग-रूम बनाया हुआ था। उसी मकान में एक और दम्पति था। युवती का नाम रागिनी था। वह देखने-सुनने में जितनी सुन्दर थी, बोलचाल व्यवहार में भी उतनी ही शिष्ट और मधुर... वह प्रायः ऊपर आती रहती। मैं मकान मालकिन का नाम तो याद नहीं रख पायी, परन्तु हर सन्दर्भ में उसे 'रागिनी का घर' कहकर परिचय देती।

यहीं ढाई साल की चीनू के साथ मैं काफ़ी दिन रही। मेरी कोशिश रहती कि मैं उसके जन्मदिन के आस-पास रोहतक ज़रूर पहुँच जाऊँ, फिर चाहे शीघ्र ही वापस लौट जाना पड़े।

यहाँ चीनू और मैं – मैं और चीनू अन्तरंग मित्रों की तरह खाते, पीते, हँसते और काम करते रहते। चीनू मेधावी और स्नेहिल बच्ची थी।

मैना और कृष्णा जब किसी काम से या बाज़ार के लिए बाहर जाते, तो वह साथ जाने की क़तई ज़िद् न करती। मैना कहती – "नानी अकेली हैं, तुम नानी के साथ रहोगी?" वह स्वीकृति में सिर हिलाती और स्वच्छन्दतापूर्वक मेरे साथ खेलती रहती।

मैं उसके पैरों, कमर और पीठ की मालिश करती। मलाई में नीबू निचोड़कर उसके पेस्ट को उसके हाथों और मुँह पर लगाती रहती, जिससे

उसका चेहरा चमकदार हो उठा। उसके भरे-भरे गाल ख़ूब गोरे और गुलाबी आभा वाले निखर आये थे। हम दोनों ख़ूब बतियाते, छोटी-छोटी बातों पर बेबात हँसते।

एक दिन जब मैं और चीनू घर में अकेले थे, एक ख़ूब स्वस्थ, सुन्दर, बेहतरीन सलवार-सूट में सजी-धजी, मोतीविजड़ित जूड़ा-पिन से सँवारी गयी केशसज्जा, लिपस्टिक रँजित होंठ, पैरों में चमचम करती सुनहरी पट्टी की सैण्डिल पहने हुए एक युवती ऊपर चढ़कर आयी और पूछा, "मिसेज़ दुबे हैं?" मैंने कहा – "वह तो नहीं हैं, आइये –" मैंने समझा मैना की कोई यूनिवर्सिटी में पढ़ाने वाली सहेली मिलने आयी होगी – सो ख़ूब आदर के साथ ड्राइंग-रूम खोलकर उसे बैठाया। सोच रही थी, इसके लिए कुछ जलपान का प्रबन्ध करूँ? चीनू मेरे पास ही दौड़ आयी थी, पर वह निर्विकार भाव से मेरे पास खड़ी रही – मैं कुछ कहती या पूछती, इसके पहले ही उसने अपने बड़े से काले पर्स में से एक मध्यम आकार का स्टील का टिफ़िन निकालकर मेज़ पर रखते हुए चीनू को इंगित करते हुए कहा – "चीनू, तुझे छोले पसन्द हैं न, मैं तेरे लिए छोले बनाकर लायी हूँ।" चीनू ने बिना एक क्षण की भी देरी लगाये कहा – "मुझे सिर्फ़ अपनी मम्मी के हाथ के बनाये छोले पसन्द हैं।" इतना कहकर वह ड्राइंग-रूम से बाहर चली गयी। मैं छोटी-सी बच्ची के मुँह से ऐसा हाजिरजवाब सुनकर दंग थी।

बहरहाल एक-दो बातें करके, डिब्बा फिर ले लेने की बात कहकर वह चली गयी। मैंने कटोरदान उठाया! खोलकर देखा, ख़ुशबूदार शुद्ध घी छोलों के ऊपर पर्त दर पर्त जमा था। मैंने बर्तन ख़ाली करने की दृष्टि से उसे हल्की आँच पर रखा, तो घी तैर उठा, कुछ टेढ़ा करने पर एक बड़ी-सी कटोरी भर गयी। इतना घी निकल आने के बाद भी मसालेदार छोले घी में तैर-से रहे थे। मैना के आने पर मैंने उसे जब हाल बताया तो उसने कहा, "दूधवाली होगी। ये ख़ूब सम्पन्न लोग हैं। दूध, घी की इफ़रात, ख़ूब पैसा है, पहनने-ओढ़ने का शौक़ भी। भैंसों के लिए ख़ूब बड़ा बाड़ा है, जहाँ दुधारू पशुओं के लिए खाने-पानी की अलग-अलग बड़ी-बड़ी नाँदें हैं, साफ़-सफ़ाई का विशेष इन्तज़ाम है। संगीत बजता रहता है, ठण्ड और गर्मी से बचाव का भी प्रबन्ध है – यहाँ से पास ही है, किसी दिन देखने चलियेगा, ले चलूँगी।"

चीनू की बात सुनकर मैना हँस दी, उसने कहा – "यह ठीक है, वह किसी की लायी चीज़ नहीं खाती, सिर्फ़ मेरी बनायी ही खाती है।"

चीनू की न जाने कितनी बातें हैं, जो माला में गुँथे गुरियों की तरह अविस्मरणीय हैं। ऐसे ही एक दिन दोपहर का समय खाना-पीना निबट चुका

था। मैना/कृष्णा किसी काम से निकल गये थे। चीनू अपने खिलौनों से खेलती, कभी बाल्कनी में चली जाती, छत से कमरे तक दौड़ भागकर खेलती, कभी छज्जे से लटककर ताक-झाँक भी करती – वह असावधानीवश गिर न जाये, इसके लिए मैं उसे आवाज़ दे-देकर बुलाती रहती, वह दौड़कर मेरे पास आ भी जाती। मैं टी.वी. देखने के लिए उत्सुक थी, लेकिन अधिक जानकार न थी। मैं स्विच ऑन कर केवल एक बटन दबाती – उसमें जैसा जो भी आ जाये चुपचाप देख लेती, अनेक बटनों के कान ऐंठने से बचती – कहीं कुछ ग़लत हो जाने से बिगड़ न जाये, और मैना/कृष्णा की एक और परेशानी बढ़े – मैंने टी.वी. खोला, पर पिक्चर धुँधली, स्क्रीन पट्टी ऊपर-नीचे खिसकती हुई, आवाज़ खूब ही तेज़ या एकदम गुम – घरघराहट... मैं इस तरह चुपचाप बैठकर इन्तज़ार करने लगी, जैसे कुछ देर में सब कुछ स्वत: ठीक हो जायेगा। अन्तत: मैंने कहा – "चीनू, टेलीविजन तो बहुत गड़बड़ है।" और चीनू बिना एक शब्द बोले ऊँचाई पर रखे होने से पास ही रखे स्टूल को खींचकर उस पर चढ़ गयी, और किसी सधे हाथ मेकैनिक की तरह कई बटन आगे-पीछे घुमाये। मैं डरने लगी – "चीनू! कहीं और ज़्यादा ख़राब न हो जाये," उसने मेरी ओर घूमकर देखा, मुस्कुरायी, जैसे मेरे भय का निवारण कर रही हो, और दूसरे ही क्षण साउण्ड और खिसकने वाली बुराई दूर हो गयी। मेरे मुँह से सहसा निकला – "मेरी चीनू, कितनी होशियार है!" पर वह उस प्रशंसा से सर्वथा अप्रभावित अपने खेल में जुटी रही – मानो कोई योगी हो।

मैना/कृष्णा चीनू के एक-एक शब्द, एक-एक एक्टिविटी को कैमरे और कैसेट में क़ैद करते। ये लोग उसके लिए बहुत-सी बाल कविताओं और गीतों के कैसेट लाये। जिन्हें सब मिलकर सुनते रहते।

चीनू के पास खिलौनों की भरमार थी, ब्लॉक खिलौने, चित्रों वाली किताबें, तरह-तरह के ध्वनि वाले बाजे... जिनको बजाकर वह कभी-कभी मगन हो थिरकती रहती...

डॉक्टर्स कॉलोनी

जुलाई से चीनू मॉडल स्कूल जाने लगी। यन्त्रचालित गुड़िया-सी दौड़ लगाती, अगले को पकड़ने के लिए हाथ फैलाकर उछलते हुए चलती। सिर पर बाँधी गयीं चोटियों को परचम-सा लहराती। खट-खट जूते बजाती। क्रीज़दार स्कर्ट-ब्लाउज, कमर में बेल्ट और गले में नन्ही-सी टाई लगाये बाल छात्रा कभी पापा के स्कूटर पर, फिर स्कूल बस में रोज़ सुबह छोटा-सा टिफ़िन लेकर स्कूल पहुँच जाती।

एक बार फिर रहने की जगह बदल गयी थी। मेडिकल परिसर – डॉक्टर्स कॉलोनी के विस्तृत दुमंज़िले फ़्लैट में...

पीछे के हिस्से में बरामदे से लगा आँगन, जिसके एक ओर नल और आँगन के तीनों तरफ़ बड़ा-सा बग़ीचा जिसमें फलों-बेलों और पुष्प वृक्षों का सघन कुंज था। बड़े-बड़े आम्रवृक्ष कच्चे-पके रसालों से लदे रहते। चकोतरा, नीबू, मीठे अमरूद, पपीता, केला, छितरी हुई अंगूर की बेल, और लाल-लाल ऊँचे से हरसिंगार के फूलों को छूकर इठलाती-सी बहती सुरभि तरोताज़ा कर देती...

आगे के लॉन में किनारे-किनारे सजी क्यारियों में गुलाब से लेकर छोटे-बड़े तरह-तरह के रंग वाले पौधे अनोखी छटा बिखेरते। ढाई फुट चौड़े ईंटों वाले रास्ते के दोनों ओर लॉन के गेट से घर में प्रवेशद्वार तक फैली क्यारियों और बीच में गलीचा-सी बिछी कोमल हरी घास पर सूर्य की प्रभात-रश्मियाँ अठखेलियाँ करती रहतीं। बाउण्ड्री के पीछे सड़क के परली पार बड़े-बड़े पीपल-बरगद जैसे वृक्षों के झुरमुट, जहाँ शाखाएँ नीचे तक लटकी हुई थीं। आसपास की ख़ाली जगह और मिट्टी खोदकर निकाल ले जाने से हुए बड़े-बड़े गड्ढों में कूड़ा जमा रहता, जो गायों, सुअरों, कुत्तों और पेड़ों के ऊपर बन्दरों के उछल-कूद मचाने का स्थान बन गया था। कौओं की काँव-काँव और अन्यान्य पक्षियों का कोलाहल ऑर्केस्ट्रा-सा बजाता रहता।

गेट के समीपस्थ कनेर का पुष्प-वृक्ष फूलों से लदा पीताभा बिखेरता; तो पास ही फर्न की छुई-मुई-सी कोमल, धागे-सी पतली नाज़ुक पत्तियों वाले दो

घने पेड़ कोहरे का आभास देते हुए सोते से प्रतीत होते।

नीचे के भाग में ड्राइंग रूम, किचन और एक छोटा कमरा था, जबकि ऊपर के हिस्से में दो कमरे, बरामदा और बालकनी, जिसमें बन्दरों के प्रकोप से बचने के लिए बाद में जाली लगवा दी गयी थी – यहाँ पुराना, टूटा-फुटा सामान, फ़ोल्डिंग, खिलौने, झाड़ुएँ, मसहरी के बाँस, पोंछे की बाल्टी, कपड़े आदि रखे रहते। छज्जे के किनारे से दूर-दूर तक सड़कें, मैदान, पार्क जिसमें बच्चे झूलते, खिसकते, दौड़ते रहते और बड़े लोग टहलते, बतियाते, व्यायाम करते या फुटबाल, बैडमिण्टन भी खेलते, दिखायी देते।

मैं कभी-कभी चीनू को लेकर पार्क में जा बैठती। उसके पास एक छोटी साइकिल भी थी, लेकिन उसे उसमें कोई ख़ास रुचि न थी। हम एक सड़क से दूसरी सड़क तक पार्क के चारों ओर उँगली पकड़े चक्कर लगाते, कभी-कभी मैं कॉलोनी के अन्य बच्चों के साथ उनके घर भी चली जाती, वे सब भी मुझसे हिल गये थे। यहाँ लगभग सभी डॉक्टर्स परिवार थे – अति व्यस्त। बच्चे प्राय: नौकरों द्वारा पोषित थे। सामान और सुविधाओं की उन्हें कोई कमी न थी... छोटे बच्चों को उनकी आयाएँ बेबी गाड़ियों में बैठाकर शाम को घुमाने लातीं। कुछ बच्चे व किशोर लड़के-लड़कियाँ कॉलोनी की छोटी, एकान्त सड़क पर साइकिलें चलाते या लड़कियाँ कड़क्को, खो-खो जैसे खेल खेलती रहतीं। कुछ और बड़ी लड़कियाँ एक-दूसरे के गलबहियाँ डाले घूमती-बतियाती रहतीं...

झुटपुटा होते ही सड़क पर मोटरों के हार्न, साइकिलों की टुनटुन, बच्चों के घर के अन्दर आ जाने की आवाज़ें, खट-खट कर हर घर की बत्तियों-राडों के जल उठने, टी.वी. या म्यूज़िक सिस्टम के गानों के सुरीले रागों, सुगन्धित मसालों की छौंक व बर्तनों के खटखट की आवाज़ें आने लगतीं।

गोधूलि बेला खिसकने और रात्रि के आगमन के बीच का समय प्रतीक्षा और उत्सुकता से लबरेज़ होता – नौकरों की छुट्टी और मालिकों के घर पहुँचने का समय दो विषम वर्ग समुदायों के मनोभावों को लगभग एक कर देता – अपने-अपने अभिभावकों-संरक्षकों से मिलने का आनन्ददायी समय...

ऐसा था डॉक्टर्स कॉलोनी का जीवन...

पुत्र-समाज में पुत्री

अक्टूबर की 14 तारीख़... रात के आठ-नौ बजे का समय। सारी तैयारियाँ पूरी हो चुकी थीं। रोहतक मेडिकल कॉलेज का लेबररूम। कुछ ही क्षणों बाद एक नया जीव धरा पर उदीयमान होगा। प्रसव प्रक्रिया गति पकड़ चुकी थी, प्रसव हो ही रहा था कि अचानक घोर अन्धकार-बत्तीगुल – क्षणभर डॉक्टर की भौंहों पर बल पड़े, वे पसीना-पसीना हो उठीं, दूसरे ही क्षण मोमबत्ती या कोई अन्य रोशनी होती – अँधेरे को पराजित कर अंकुरित 'कुटज' पुष्प के समान स्वस्थ, सुन्दर जीवट वाले जीव ने "पुत्री हूँ तो क्या?" – बुलन्द स्वर में अपने आगमन की सूचना दी।

इस बार घर में चीनू के जन्मकाल का-सा सन्नाटा न था। सम्बन्धियों, परिजनों, बुज़ुर्गों को समाज के सम्मानित पदों पर आसीन (मैना सांख्यिकी में डॉक्टर और कृष्णा डेण्टल-सर्जन, दम्पति को प्रतिष्ठा साथ ही वेतन भी अच्छा था) उदार हृदय अच्छे वेतनवाले स्वावलम्बी दम्पति के घर पुत्र-जन्म की आशा थी और 'पुत्रोत्सव' – बड़े-बड़े नेगों और उपहारों का फलदायी अवसर। बुआ, चाचा, दादी, भैया, बहन सभी उपस्थित हुए।

इस बार भी पुत्री है तो क्या धनापेक्षा ने कुछ काल के लिए पुत्र-पुत्री का विषमभाव मिटा दिया। सभी अपेक्षित संस्कार सरणियाँ विधि-विधान से आयोजित हुईं – सूर्य दर्शन, छठी, बरहाँ, नहान... शुद्धि... चौक, कलश, तिलक, पूजन, नेत्ररंजन, नेगचार सुप्राप्ति के बाद सभी की आँखों में चमक आ गयी। मन में प्रसन्नता भर गयी। खुशनुमा माहौल...। मेरा जिज्ञासु मन बार-बार सोचने लगता, इस समाज की यह कैसी भेदभाव भरी व्यवस्था – जहाँ एक को कुछ समय के लिए 'पुत्र का स्थानापन्न' मान, संस्कारित कर ऊँचा उठा दिया जाये, और फिर कालान्तर में उसकी रही-सही स्थिति से भी नीचे ढकेल दिया जाये।

क्या है पुत्रोत्सव? – नवजात पुत्र के नाम पर धनार्जन संस्कार की आड़ में सामाजिक-विषमता को बढ़ावा। क्रय किये हुए ब्राह्मणों-पण्डित के मुख से संस्कारित घोषित किये गये पुत्र को व्यापक समाज से जोड़ने का विधान ही

न? इसके पीछे यदि समानता व प्रतिष्ठा का ही मन्तव्य होता तो पुत्री का भी समान संस्कार विधान होता...

विधिवत संस्कारित पुत्र ही वंश परम्परा, सामाजिक-आर्थिक आदि विविध दायित्वों व अधिकारों का स्वामी माना जायेगा। उसके अधिकारों व दायित्वों की डोर इस जीवन जगत तक ही नहीं, इहलोक से परलोक तक व्याप्त है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी वंशजों के रूप में बेल की तरह बढ़ती जायेगी।

संस्कारित पुत्र ही दिवंगत पूर्वज को मुखाग्नि और मृत पितरों को पिण्डदान करने का अधिकारी है।

और सृष्टि का दूसरा अंश – पुत्री, उसका कोई संस्कार नहीं होगा – जैसे चीनू का। तो फिर गुल्लू, जातकर्म/पुत्रोत्सव आदि संस्कार उसकी पदोन्नति के सूचक हैं – ? नहीं... यह अंशकालिक छद्म-पुत्र है, जैसे लहलहाती खेती की फ़सल की पशु-पक्षियों से रक्षा हेतु 'धोखा' खड़ा करना ज़रूरी हो जाता है, उसी प्रकार पुत्रोत्सव के पीछे भी क्या प्राप्ति ही मूल भाव नहीं है?

पुत्र-पुत्री और दो पुत्रियों में भी भेदभाव की इस परम्परागत मनस्थिति को वरीयता देते देख मेरा मन मसोस उठा – विवश पुत्रियाँ।

पितृसत्तात्मक समाज में पुत्री व्यक्ति नामक एक इकाई भी नहीं है। वह अस्तित्वहीन, वर्चस्वहीन, अज्ञात कुल-नाम एक मांस-पिण्ड मात्र है। सदियों से मात्र भोग्या होना ही उसकी नियति रही है, और यों ही उसे जीना और मरना है।

छठा दिन – सुबह से ख़ास प्रकार के कई व्यंजन बनाने की तैयारी, बच्चे के नये कपड़े, चौक पड़ा, आरती का दिया बना, पूजा का थाल सजा; बुआ काजल लगायेंगी; दादी, मौसी, बहन टीका करेंगी – हर्षातिरेक का माहौल – पण्डित जी आ गये... दादी बच्ची को उठाकर ले आयीं और नहलाने लगीं। असावधानीवश साबुन का पानी गले और नाक में भर गया। नन्ही-सी जान ऊब-चूभ करने लगी। कृष्णा ने लपककर बच्ची को टाँग से पकड़कर उल्टा लटका लिया, वे पीठ पर थपकी मारते हुए पास ही कॉलोनी में गाइनोकॉलाजिस्ट डॉ. सुनीता तिवारी, जिन्होंने मैना का प्रसव कराया था – के पास इमरजेंसी में दौड़ गये, और अति संवेदनशील, कर्तव्यनिष्ठ मित्र डॉ. तिवारी भी मात्र गाउन पहने, अधनहाई बाथरूम से दौड़कर आ गयीं। उन्होंने त्वरित उपचार कर उसकी जान बचायी।

पण्डित जी ने कहा – "अल्पटल गयी, चलो कोई बात नहीं।" और पूर्ववत् व्यवस्था लेन-देन खान-पान सोल्लास सम्पन्न हुआ।

कुछ दिन बाद अम्मा विक्की के साथ लखनऊ लौट गयीं, तो कुछ दिन सावित्री साथ रहीं, प्राप्तियाँ लेकर जब गयीं तो भरपूर नेगचार लेकर, फिर

उन्होंने बबली को मामी के पास छोड़ दिया। इस बीच मैना को घरेलू कामों के लिए एक कर्मठ सेविका मिल गयी, जिससे उसे बहुत सहायता मिली। बबली को बहन का मान, और हक़ दिया गया।

छोटी-सी चीनू – पर उसने अपनी फूल जैसी कोमल, छोटी बहन का नाम पंखुरी रखा। मैना ने चीनू (मेरा दिया हुआ पुकार का नाम चीनू रहने दिया) के ऊकार से मिलता हुआ ऊकार प्रियता बरक़रार रखते हुए पुकार का नाम प्यार से भरकर गुल्लू रखा।

इस प्रकार तनिमा का 'चीनू' और पंखुरी का 'गुल्लू' नाम प्रचलित हुए।

विक्षोभ

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में मैं लखनऊ पहुँची। घर पर विपत्तियों के बादल घिर रहे थे।

हरी के पूरे परिवार को पाण्डेय जी लखनऊ बुला लाये थे। वे 'लिकर' का अत्यधिक सेवन करने के कारण गम्भीर 'डेमेज लिवर' के मरीज हो गये थे। एयरफ़ोर्स मेडिकल हॉस्पिटल में उनका भली-भाँति दवा-इलाज हो रहा था। वे सेवारत थे, इसलिए उन्हें सरकारी मकान मिला हुआ था। देख-रेख के लिए हरी पाण्डेय को नौकर के अतिरिक्त, आर्थिक, चिकित्सकीय सुविधाएँ भी प्राप्त थीं। परिवार को सुरक्षा मिल रही थी। उच्च स्तरीय ऑफ़ीसर्स कॉलोनी का रहन-सहन, बच्चे भी पढ़ रहे थे। पर घर के मुखिया न जाने क्यों इस परिवार को लखनऊ ले आये। यहाँ असाध्य रोगी और छह जनों के परिवार को क्या सुविधा मिल पाती? यहाँ पहले से ही नाते-रिश्तेदारों के कई लड़के-लड़कियाँ रहकर पढ़ रहे थे। उन्हीं के खर्च और ज़िम्मेदारियाँ कम न थीं। अब इस परिवार के और आ जाने से संख्या बढ़ी, असाध्य बीमार व्यक्ति के अनेकविध काम बढ़े। देवरानी का मायका कानपुर में था, वहाँ से उनकी दो बहनें, भाभी, भाई, भतीजे और हरी के मिलने-जुलने वाले मित्र भी आते रहते, फलतः इन सबका असाधारण खर्च और दायित्व बढ़ गया।

स्वार्थपरक, संकुचित दृष्टि वाले लोग... घर, घर न रहा, वह एक सराय या होटल में बदल गया। अराजकता, अफ़रा-तफ़री, खींचतान। अपने-पराये का भेदभाव – स्थान और वस्तुओं पर आधिपत्य की प्रवृत्ति... प्यार और नफ़रत का अजब-सा माहौल, गुटबन्दी की स्थिति...

इसने अन्नू को टूट के कगार तक पहुँचा दिया। संवेदनशील बच्चा क़दम-क़दम पर उपेक्षा महसूस करता। अपने ही घर में उसकी भागीदारी कम होते-होते नगण्य रह गयी। पिता तक पहुँच एक स्वप्न बन गयी... उपस्थिति अनदेखी अनचीन्ही-सी, लोगों से दूर और दूर होता जाता, जैसे ढकेला जाकर एक कोने में समेट दिया गया हो। उसकी उदासी बढ़ने लगी। आदतें बिगड़ने लगीं। उसे लगता घर में उसका कोई वर्चस्व नहीं, कोई अस्तित्व नहीं... उसका

हर दिन एक युग के समान बीतता – बेजान, नीरस, हताश, बोझिल – नफ़रत और घुटन भरा साल...

धीरे-धीरे हँसमुख, सौम्य, स्मार्ट अन्नू उजड़े हुए व्यक्तित्व वाला, विक्षुब्ध और हताश युवक दिखायी देने लगा। उसको देखकर हृदय डूबने लगता, आँखें भर जातीं... अनेक प्रकार की ज़िम्मेदारियों और चुनौतियों का सामना करते-करते मेरे सामने टैगोर के 'होम कमिंग' का फटिक चक्रवर्ती मूर्तिमान हो जाता...

4 जनवरी, 1989 का दिन। दिसम्बर की छुट्टियों के बाद स्कूल खुलने का पहला दिन – क्लास में थी – अचानक सूचना मिली – सूचना क्या वज्राघात था... दिन-दोपहर 11 बजे, जन-संकुल घर में एकान्तसेवी अन्नू फटिक की तरह इस दुनिया से दूर-बहुत दूर चला गया, फिर कभी न आने के लिए, कटे हुए वृक्ष-सा हृदय हाहाकार कर उठा...।

उपेक्षा और विषमता व्यक्ति की हो या समाज की या प्रकृति तत्वों (जल, वायु, धरती और आकाश आदि) की, हृदय का हाहाकार विक्षोभ के रूप में फूट निकलता है। क्योंकि जड़ हो या चेतन दोनों का सृजन पंचभूतों से ही तो हुआ है।

सुनामी, कैटरीना हो या भूकम्प, गिरिस्खलन हो या अन्धड़, ज्वालामुखियाँ हों या भयप्रद ओजोन छिद्र, इनके विक्षोभ के मूल में असन्तुलन ही तो है। इनके पीछे उपेक्षा और अनदेखी ही तो है।

प्रदूषण जल और वायु का हो, चाहे विचार का – असन्तुलन में छिपा होता है स्वार्थ और विषमता, और बढ़ती जाती है नफ़रत तथा असहिष्णुता।

नफ़रत तथा असहिष्णुता व्यक्ति, समाज और पर्यावरण को सदियों तक दुष्प्रभावित करती रहती हैं, जो अन्ततः पतन और विनाश की ओर ही ले जाती हैं।

और फिर आया 10 सितम्बर 1991... एक और चोट... मौन, पश्चाताप से कराहते पाण्डेय जी दिवंगत हो गये। मेरा चोटिल हृदय और करुण कोमल मन-मस्तिष्क विकल हो छटपटा उठा। अब दोनों पुत्रियों मैना-बुलबुल के दाम्पत्य जीवन को सुखी एवं सन्तुष्ट देखने की कामना से मन भर-भर उठता। इस स्थिति में, मैं कभी रोहतक, कभी दिल्ली रहने चली जाती। और समय चक्राकार घूमने लगा।

कुछ दिनों बाद महसूस होने लगा कि दामादों के साथ मेरा वैचारिक मतभेद उन्हें अकारण कड़ुवाहट से भर देता है, जिसके कुछ छींटे उनके दाम्पत्य जीवन पर भी पड़ जाते हैं। कभी मैना-कृष्णा उलझ पड़ते हैं, कभी बुलबुल मनोज को समझाती-धमकाती है... मुझे लगा – जहाँ आशीर्वाद और

शुभकामनाओं की बौछार होनी चाहिए, वहाँ मेरी वजह से दुरूहता और दूरी हो – आपसी मनमुटाव...? नहीं, यह हर्गिज़ नहीं होगा। दोनों लड़कियाँ अपने-अपने चुने हुए जीवन और स्वनिर्मित रास्ते पर सहज होकर चलती रहें, बढ़ती रहें, खुश रहें...

मैंने अपने को समेट लिया...

अस्तंगत सूर्य

जिस प्रकार अस्तंगत सूर्य अपनी ऊर्जा और प्रकाश एक बार पूरी क्षमता से बिखेर कर विदा लेता है, उसी प्रकार मेरे जीवन की डगर और मनस्थिति की दिशा बदल गयी।

दोनों समृद्ध पुत्रियों के घर में सभी प्रकार का शारीरिक सुख प्राप्त करने के बावजूद मेरा मन स्थान-परिवर्तन के लिए मुझे विकल करने लगा... समय की गति तो अग्रगामी होती है, फिर प्रतिगामी होकर ठहर क्यों गयी? विगत कई वर्ष सदेह साकार होकर मुझे रबर की तरह खींचकर छोड़ देते, झटका खाकर चोटिल तिलमिलायी-सी मैं अपने आप से पूछती – "कहाँ हूँ मैं?"

मेरा स्थान वह है, जहाँ मेरी स्वतन्त्र पहचान है। जो मेरा कर्मक्षेत्र रहा। साथ ही जिस जगह मैं परिस्थितियों के सामने हथियार डाल चुपचाप सहमी-सी खड़ी रह गयी... जहाँ मैं स्वयं पराजित अपने पराजित, तिरस्कृत होते बच्चे के टूकटूक होते व्यक्तित्व को नम आँखों देखती रही – विचार-शून्य, निष्क्रिय-सी...

अब वहीं जाऊँगी, एक बार फिर उसी जगह अपने अनुराग के पास – उसकी आहट उसकी यादों के पास... अपने को जगाने – सुप्त ऊर्जा को दिशाबद्ध करने, जन-जन को चेताने, समाज में फैले बाल अनुरागों का एक नये रूप में सृजन करने...

और यह आत्मिक पुकार, अन्याय के ख़िलाफ़ मेरा मानसिक संघर्ष, एक प्रेरक शक्ति बन गयी।

मैंने दलित द्राक्षा की तरह अपनी तड़प को निचोड़कर (अनुराग) प्रेम (पत्रिका) मिठास की बूँदें बच्चों में बाँटने का निश्चय कर लिया। 'अनुराग बाल केन्द्र' की स्थापना और उसके बैनर तले आयोजित बहुविध क्रियाकलाप उसी प्रेरणा की देन बन गये।

एक शिक्षक मानस-पौध तैयार करता है, मैंने भी जीवन की शेष ऊर्जा 'नयी पीढ़ी निर्माण' में लगाने का संकल्प लिया है।

मेरे अवचेतन ने पीढ़ी निर्माण का स्वप्न तो केन्द्र स्थापना के पाँच वर्ष पूर्व

ही 10 अप्रैल को देखा होगा –

शायद इसीलिए 10 अप्रैल की चीनू मेरे मन-मस्तिष्क में उमड़-घुमड़ उठती है, अन्नू की भी दुलारी बन गयी थी जो – मेरा मन उसके पास पहुँच जाता है, पर वह है मेरी 'स्वप्निल चीनू', जिसकी दुनिया एकदम अलग है – जो जर्जर-शोषित देश और समाज को बदलकर नये समाज की संरचना करने वाली एक रेखांकित शक्ति है। वह चीनू स्वतन्त्र एवं निर्भीक पत्रकार है, विश्व शक्ति का चौथा खम्भा – वर्तमान इक्कीस वर्षीया वयस्क चीनू प्रवाहित नदी की धारा है – विनम्र, सीमित आत्मरत, सहज, समझौतापरक, यथास्थितिवादी...

उसकी परिस्थितियाँ, उसकी सोच, उसका रास्ता, उसका प्रयास निश्चय ही स्वतन्त्र पहचान और व्यक्तित्व विकास वाला होगा – ऐसा सोचती हूँ कि वह पराधीन, परमुखापेक्षी नहीं होगी। बहरहाल, वह जो भी है या जो हो... मेरी मानसी है। विचार बीज है – मेरे सृजन का आधार भी...

अस्तु,

ये उसके बचपन के कुछ रेखाचित्र हैं और मेरे संस्मरण – जिनमें भावों का गुम्फन है – प्यार का आलोड़न... यह टेढ़ा-मेढ़ा-सा कथ्य है नितान्त व्यक्तिगत – केवल चीनू के लिए...

उस चीनू के लिए जो चुस्त, फुर्त, आत्मविश्वास और ऊर्जा से लबरेज़ है – ऐसी दुहिता पुत्री को उपर्युक्त कथ्य – सस्नेह, शुभकामनाओं के साथ समर्पित करती हूँ।

– नानी

रमाशंकर पाण्डेय

(श्रद्धांजलि)

बच्चा (रमाशंकर पाण्डेय) मेरे देवर, दोस्त, साथी, सहयोगी, हमजोली। तुम्हारे निधन की सूचना पर दिल धक् से रह गया। 78 वर्षीय दिवंगत साथी की मृत्यु स्तब्धकारी न होकर भी रुला गयी। साठ वर्षों के दीर्घ जीवन तक हमारे विचार और रिश्तों में कभी दूरी या खटास नहीं आयी।

1946-49 का ज़माना, पाण्डेय जी क्रान्तिकारी थे, मेरा झुकाव कम्युनिस्ट पार्टी की ओर, रमाशंकर (बच्चा) हमारे छोटे देवर और उम्र लगभग बराबर थी। मैं विवाह के समय चौदह-पन्द्रह साल की लड़की थी, पाण्डेय जी, बच्चा, मैं, चुन्नू सभी छात्र फ़ेडरेशन के सदस्य थे। घर में घनघोर ग़रीबी – अम्मा द्वारा चर्खे पर काते गये सूत की बुनी हुई दरियों, कथरियों, चादरों और एकाध पुराने कम्बलों पर एक बड़ी-सी रजाई ओढ़कर अम्मा सहित हम सब घोड़े बेचकर सो जाते। जौ-चना-गेहूँ मिले आटे की रोटियाँ सस्ती से सस्ती आलू या पत्तीदार हरी सब्ज़ी और किन्की का चावल व दाल हमारा भोजन होता, जो हमें किसी व्यंजन भोग से कम न लगता...

ईमानदारी, कर्मठता और स्वाभिमान हमें आगे बढ़कर सड़े-गले समाज को बदलने और समाजवाद लाने की प्रेरणा देते रहते – हम दोनों की पटरी समानता के स्तर पर कहीं अधिक सटीक बैठती – क्योंकि हम सर्वहारा थे – जिनके पास खोने के लिए कुछ नहीं और पाने को पूरी दुनिया थी।

हम दोनों आठवीं के विद्यार्थी थे। बच्चा भी मेरी तरह मेहनती और सफ़ाई-पसन्द थे, इसलिए हमारी रुचियाँ भी मिलती थीं।

बच्चा की ज्योमेट्री पर गहरी पकड़ थी – प्राय: मैं बर्तन माँजती और वे चौके की सफ़ाई करते – अचानक बच्चा आधी सफ़ाई के बीच ही चिल्ला उठते – भाभी-भाभी। यह देखो ए-बी-सी एक त्रिकोण है, अब इसका एक कोण अमुक, दूसरा अमुक... इस तरह वे समस्यात्मक प्रश्न में मुझे उलझा देते, मैं बर्तन माँजना भूलकर समस्या सिद्ध करने में जुट जाती – और जब असफल

होती, तो वे बड़े अहसान से उसे बता देते। मेरा अल्जेब्रा और गणित तेज़ था, मैं उन्हें पहाड़ों में, भिन्न के सवालों में मात देने में पीछे नहीं रहना चाहती। इस तरह हम वर्तमान राजनीति पर भी बातचीत करते और निष्कर्ष निकालते रहते... ऐसी ही तमाम बातें याद आ रही हैं... याद आ रही है सूर की यह लाइन... "लरिकाई को प्रेम कहौअलि कैसे छूटै?..." बच्चा मसखरे थे... शब्दों में, व्यवहार में...

केवल दो जोड़ी जूते-चप्पल ऐसे पॉलिश कर-कर चमकाते कि देखने वाले दंग रह जाते। इसी तरह एकाध कुरते-पैजामे (दादाओं के भी) धोकर, सुखाकर, बटलोई में कोयला भर ऐसे कस-कसकर प्रेस करते कि लोग चमत्कृत होकर पूछते – क्या धोबी आया था? मैं सच्चाई बताना चाहती, तो तरह-तरह के इशारों से मुझे धमकाते... फिर भाइयों से शाबाशी की आशा में "सौंह करै, भौंहनि हँसै, दैन कहै नटि जाय" अपने ही धोबी होने का उल्लेख करते।

मेरी आँखों के सामने बच्चा का पूरा सरल, अल्हड़, सेवा, सहायता भरा जीवन इस प्रकार तिर रहा है, जैसे कल की बात हो – पाण्डेय जी की राजनीतिक गिरफ़्तारी, मेरे पीछे जासूस होना, घर में धनाभाव, बीमारी-अम्मा की वृद्धावस्था – पर इन सब संघर्षों के बीच के जीवन की जीवन्तता, घर के माहौल में अटूट प्यार और अपनत्व और आशावादिता एक ऐसी शक्ति सँजोये था, जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता... इस पूरे दौर में मैं कभी अपने समृद्ध पिता के यहाँ नहीं गयी, क्योंकि यह माहौल संघर्षों के बावजूद व्यापक समाज से जुड़ने की स्वाभिमानी शक्ति देता था...

समय के पन्ने उड़ते गये... एअरफ़ोर्स ज्वॉइन करना, शादी और उसकी ज़िम्मेदारियाँ, रिटायरमेण्ट के बाद भी प्राइवेट कम्पनियों में कोई न कोई काम ढूँढ़ लेते, ताकि गृहस्थी चलती रहे। युवा पुत्री कविता की मृत्यु... लड़कियों की शादी की चिन्ता, अन्नू की मृत्यु, दादा भाइयों में हरी की मृत्यु, पत्नी शन्नो और सेवारत, सक्षम युवा पुत्र प्रविष्ठ (भैया) की मृत्यु ने उन्हें तोड़कर रख दिया। उनमें घनघोर अकेलापन भर दिया – शारीरिक शिथिलता के शिकार होने के साथ ही बच्चा निराश हो गये। जिसने सतत संघर्ष करते हुए कभी पराजय स्वीकार नहीं की, चुनौतियाँ स्वीकार कर चलता ही रहा... इस बार मृत्यु ने उन्हें हरा दिया, वे थककर हमेशा के लिए सो गये...

मृत्यु को अवश्यम्भावी मानकर भी मेरी आँखें बार-बार भर आ रही हैं... मैं अपने दिवंगत साथी को अपने श्रद्धाश्रु सुमन अर्पित करती हूँ।

तुम्हारी साथी, भाभी, कमला पाण्डेय

8 मार्च – अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस

आज 8 मार्च है – अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस! यह तिथि भी, 14 नवम्बर बाल दिवस, 1 मई मज़दूर दिवस, 9 अगस्त शहीद दिवस आदि दिवसों की तरह ही एक मशीनी कर्मकाण्ड बनकर रह गयी है।

साल दर साल हम 8 मार्च मनाते हैं! आज के दिन कुछ गोष्ठियाँ, कुछ भाषण, एक-दो सेमिनार कर लेते हैं और बस अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। इस एकदिनी कार्यक्रम से क्या स्त्रियों की दशा और दिशा बदल पायेगी?

सृष्टि के विकास में दो समान कारक हैं – स्त्री और पुरुष, लेकिन पुरुष को उच्च और स्त्री को हेय समझने की भावना पितृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था की देन है। इस समाज में स्त्री दोयम दर्जे की नागरिक और आजीवन गुलाम मानसिकता में जकड़ी रहने को विवश है।

कृषि युग से लेकर आज के विज्ञान युग तक सदियों पर सदियाँ बीतती गयीं, लेकिन स्त्री के प्रति समाज की सोच नहीं बदली। इस पितृसत्तात्मक समाज में पुरुष (पति) को स्वामी (परमेश्वर) तथा स्त्री को उसकी जन्म-जन्मान्तर की दासी (परमुखापेक्षी) – सेविका बने रहने का विधान है।

वर्णाश्रम व्यवस्था में वह शूद्र से भी गयी-बीती है, उसका अपना न कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है, न नाम, न कुल, न जाति...

"कन्या की जाति वही, जाये जिस कुल में।"

ईश्वर और धर्म उसके लिए कभी शरणदाता नहीं बने, मृत्युदाता ही रहे।

ग्रन्थ के ग्रन्थ पितृसत्ता के छद्म और षड्यन्त्र से भरे पड़े हैं। भाषा, भूषा, शब्दावली, संस्कार सभी में छल और दिखावा... कथनी अलग, करनी अलग – इन ग्रन्थों में पुत्र प्रसविनी नारी जननी पूज्या कही गयी। वह शक्तिस्वरूपा संरक्षिका बतायी गयी, उसे कल्याणी और देवी शब्दों से सम्बोधित किया गया; वहीं दूसरी ओर उसे माया, छलना, ठगिनी और कुटनी कहकर दुत्कारा गया। नरक का द्वार कहकर उसकी भर्त्सना की गयी। यदि किसी साहसी विद्रोहिणी नारी ने शोषण की मुख़ालफ़त करनी चाही, अधिकार समानता की आवाज़

उठानी चाही, तो उसे चण्डिका, डायन, विनाशिनी व कुलटा (चरित्र भ्रष्ट) घोषित कर उसके महत्त्व को कुचल दिया गया। उसके अस्तित्व तक को नकार दिया गया। वह समाज में अति हेय, उपेक्षा और निन्दा का पात्र बना दी गयी। वह मानवी से इतर कुजाति व घृण्य मानी जाने लगती है। इस षड्यन्त्र में धर्म, समाज, तन्त्र-मन्त्र, सत्ता और क़ानून सभी एकजुट...

पितृसत्तात्मक समाज में बेटा-बेटी में ज़बरदस्त भेदभाव है। बेटा पैदा होते ही सम्पत्ति का हक़दार हो जाता है, वहीं बेटी अधिकारच्युत गुलाम के समान अस्तित्वविहीन... पुरुष (पति) के मरते ही उसकी पत्नी ज़िन्दा लाश समझी जाती है। उसको जीवित रहने का क्या हक़ है? वह जले, मरे या जलाकर मार डाली जाये – मिटना ही उसकी गति है, वह इसी योग्य है। सती महिमा-मण्डन जैसी नारी अस्तित्व को अस्वीकार करने की सुनियोजित कलाबाज़ियों, कहानियों से ग्रन्थ के ग्रन्थ भरे हैं। यदि पति मृत्यु के बाद भी स्त्री अपने जीवन का वरण करना चाहे, तो उस विधवा को रौरव नरक भोगने पड़ेंगे।

स्त्री का स्वयं अपनी देह तक पर अधिकार नहीं माना गया। वह घर, परिवार, समाज कहीं भी सुरक्षित नहीं – न उसका कोई मान है, न सुनवाई... पितृसत्ता ने जानबूझकर ऐसा षड्यन्त्र रचा है कि न्याय के प्रहरी कहते हैं – बलात्कार नारी के लिए मृत्युजनक शर्म है, इसलिए चुप रहे – जबकि पुरुष के लिए वह एक खिलौनाभर है, खेला और तोड़कर फेंक दिया...

समाज के बड़े-बुज़ुर्गों से लेकर परिवारीजनों, रिश्तेदारों, हमदर्दों, पड़ोसियों, धर्म के ठेकेदारों तक की दृष्टि में स्त्री सिर्फ़ एक औरत है, मादा है, भोग्या है। उसे साम, दाम, भेद, दण्ड किसी भी उपाय से प्राप्त कर लेना ग़लत या नाजायज़ नहीं है... सत्ताधारी पुरुष मनचाहे ढंग से उसका भोग कर सकते हैं। पत्नी, दासी, सेविका, वेश्या, रखैल आदि विविध रूपों में सैकड़ों की लाइन रख सकते हैं। उन्हें वे क़ैदी की तरह महल (हरम) में रखें, किसी को दान में दें, बेचें-ख़रीदें या बाज़ार में प्रदर्शनी लगायें – सत्ताधारी के पक्ष में धन-बल, बाहुबल, धर्म, समाज, नियम और क़ानून सभी हैं, जो स्त्री को पंखहीन पखेरू बनाने को हर समय तत्पर रहते हैं। निरंकुश पुरुष को न किसी का भय है, न कोई संवेदना...

मध्ययुगीन राजशाही सामन्ती युग की दर्दनाक ख़ूनी दास्तानें, कोठों, हवेलियों, महलों, गर्भगृहों, विशाल तहख़ानों, गढ़ों और गुम्बदों के पत्थर आज भी नारी यन्त्रणा की कहानियाँ सिसक-सिसककर कह रहे हैं... न जाने कितनी अधिकारच्युत नाजायज़ सन्तानें... गोली, गोले, बाँदियाँ, बेड़िया, बंजारे, नट,

करनट, कंजड़ आदि दरिद्र, अशिक्षित, अपराधोन्मुखी जातियाँ – स्त्री के यौन शोषण, अपमान और उपेक्षा की उपज हैं।

सदियाँ बीत गयीं, लेकिन यौन-शोषण, हिंसा और क्रूरता? उसका सिलसिला बरक़रार है – समाज आज 21वीं सदी, विज्ञान के युग में आ पहुँचा; चाँद, मंगल और अन्तरिक्ष की ऊँचाई तक, लेकिन स्त्री कहाँ है? वह पाताल के किस पायदान पर पहुँचायी जा रही है? आज का यथार्थ कितना वीभत्स, भयोत्पादक और कुत्सापूर्ण है, इसे मीडिया और अख़बारों की दैनिक सुर्ख़ियों में देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ –

• रतलाम के क्रिश्चियन मिशन अस्पताल के पीछे वाले नालों से कल तक 500 से अधिक नवजात शिशुओं की हड्डियाँ निकलीं। आज भी 250 पॉलीथीन बैगों में बहाये गये भ्रूण पाये गये हैं।

• नोएडा के पास निठारी गाँव के समीपस्थ ख़ूनी कोठी नम्बर पाँच के पीछे वाले नाले से 40 से अधिक कंकाल बरामद हुए। फ़ोरेंसिक जाँच और शिनाख़्त के आधार पर इनमें अधिकांश बच्चियाँ और युवतियाँ थीं, जिनकी उम्र पाँच से तीस साल तक की थी। ये सबकी सब यौन उत्पीड़न, दरिंदगी और आदमख़ोरी का भी शिकार हुईं।

• अनेक नवजात बालिका शिशु कूड़े के ढेर, नाली के कचरे, झाड़ी, सड़क के किनारे, मन्दिर की दीवार तथा अनाथालय की सीढ़ियों पर फेंके हुए मिले।

• देश की राजधानी दिल्ली में मौलाना आज़ाद मेडिकल कॉलेज परिसर में छात्रा के साथ बलात्कार।

• विदेशी महिला के साथ सामूहिक बलात्कार – लहूलुहान बेहोश महिला को कार में छोड़ अभियुक्त फ़रार।

• दलित महिला को निर्वस्त्र कर सरेआम सड़क पर घुमाया।

• आदिवासी महिला को पहले डायन क़रार दिया, फिर तन्त्र-मन्त्र द्वारा मिर्चों का धुआँ देकर मार डाला गया।

• वयस्क युवक-युवती को जाति बाहर विवाह करने पर सख़्त सज़ा दी गयी। उन्हें धोखे से घर बुलाया, आशीर्वाद देने की जगह मारकर शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर फेंक दिया।

• हरियाणा की पंचायत ने स्वेच्छया विवाह करने वाले दम्पति को, विवाह अमान्य कर भाई-बहन की तरह रहने का निर्णय सुनाया।

• पाँच बच्चों की माँ इमराना के साथ उसके ससुर ने बलात्कार किया – लेकिन सज़ा की क़ाबिल निरीह औरत ठहरायी गयी, उसे फ़तवा मिला कि

शरियत के अनुसार वह अपने पति के अयोग्य हो गयी है, अब वह अपने पति के साथ नहीं रह सकती – वह चाहे तो अपने पति की माँ बनकर रहे।

• गुड़िया का भगोड़ा घोषित पति दस साल बाद पाकिस्तान से वापस लौट आया, इस बीच ससुराल और मायके वालों ने गुड़िया की शादी दूसरी जगह कर दी, जिससे सालभर का बच्चा भी है – मौलवियों ने अब उसे फ़तवा दिया कि वह अपने पहले पति आरिफ़ के साथ रहे – गुड़िया की इच्छा का कोई मूल्य नहीं कि वह किसके साथ रहना चाहती है। धर्म और शरियत का दबाव... साल पूरा होते न होते उसे यह दुनिया छोड़नी पड़ी।

• बालिका भ्रूण हत्या डॉक्टरों की अन्धी कमाई का ज़बरदस्त धन्धा बन गया है।

• सर्वे बतलाते हैं कि देश में स्त्रियों की संख्या पुरुषों के मुक़ाबले तेज़ी से घट रही है – 100 पुरुषों पर मात्र 732 स्त्रियाँ। विज्ञान मानव विकास के लिए है, पर आज उसका प्रयोग विनाश के लिए हो रहा है। अल्ट्रासाउण्ड जाँच से पता चलते ही बालिका को गर्भ में ही मार दिया जाता है।

आज पूँजीवादी-साम्राज्यवादी युग में हिंसा, क्रूरता और स्त्री शोषण भी भूमण्डलीकृत हो गया है। विश्व के सिरमौर विकसित देश योरप और अमेरिका में भी स्त्रियों की दुर्दशा है। अभी कुछ वर्षों पहले ही वहाँ स्त्रियों को वोटिंग राइट मिल पाया। विकसित देशों की पढ़ी-लिखी, कामकाजी स्त्रियों की भी पिटाई होती है। बलात्कार और तलाक़ आम बात है। यौन शोषण की दृष्टि से वे एकदम असुरक्षित हैं, एकल परिवार में भी एकल जीवन। वे वृद्धावस्था में अनेक प्रकार की त्रासदियाँ झेलने को अभिशप्त हैं।

साम्राज्यवाद का फैलता शिकंजा – 21वीं सदी की नारी गुलाम मानसिकता और बाज़ारवाद का शिकार बनने को मजबूर की जा रही है। वह सिर के बालों से लेकर पैर के नाख़ून तक एक-एक अंग से अधिकारच्युत होती जा रही है। आज स्त्री मानवी नहीं – वह बाज़ार की एक वस्तु है। उपभोक्ता को रिझाना उसके जीवन का लक्ष्य बनाया जा रहा है। वह धनपति के मुनाफ़े का एक साधन है। मीडिया, मॉडलिंग और विज्ञापन की रंगीन दुनिया के विशाल मकड़जाल में फँसते जाना उसकी नियति बनती जा रही है।

जो स्त्रियाँ पुरुष के बराबर किसी भी प्रकार से शिक्षित होकर अपने वर्चस्व को इंगित करने और महत्त्वाकांक्षाएँ पूरी करने के लिए प्रयत्नशील हैं, उन्हें सावधान और विशेष सतर्क होने की ज़रूरत है, वरना वे मधुमिताओं और कविताओं की तरह गन्दे नालों और गटरों में काट-मारकर फेंक दी जायेंगी, किन्तु वहीं जो अपना स्वाभिमान भूल, गालियाँ, अपमान, नस्लवादी क्रूर

टिप्पणियों को भी दरकिनार कर, किसी भी सीमा तक आत्मसमर्पण कर गुलाम मानसिकता को अपनाने के लिए तैयार हो जाती हैं, वे सत्ता और धनपतियों की चहेती बना ली जायेंगी। वे करोड़ों में खेल सकेंगी।

साथियो, हमारे लिए कितनी विकट स्थिति है यह – एक ओर सुनीता विलियम्स जैसी एक-दो नारियाँ अन्तरिक्ष में भी चहलक़दमी करने का सौभाग्य पा सकती हैं, ठीक जैसे सदियों पहले गणितज्ञा लीला और अपाला जैसी स्त्रियों ने अपना महत्त्व मानने को विवश कर दिया था, लेकिन आज सामान्य स्त्रियाँ कहाँ हैं? किस दशा में हैं? आज होटलों, रिसॉर्टों और पबों में 'बार डांसर' और 'साकी बालाएँ' होटल मालिकों के लिए सोना उगलने वाली मशीनें हैं, जबकि वे स्वयं बलात्कार, हत्या, तरह-तरह के दमन और शोषण की शिकार हैं। उन पर दीन-हीन, अपाहिज, दरिद्र घर-परिवार को दो जून रोटी कमाकर देने की ज़िम्मेदारी है – सामाजिक उपेक्षा और अशिक्षा के कारण देह का धन्धा उनकी मजबूरी है... करोड़ों ऐसी निरीह, असुरक्षित और उपेक्षित स्त्रियाँ सड़कों, फुटपाथों, नालों के किनारे गिरती, पड़ती, भटकती मानसिक रोगों का शिकार हो रही हैं।

पाँच अरब दुनिया की आबादी की आधी स्त्रियाँ – लेकिन समाज, संसद, सत्ता, शिक्षा, सम्पत्ति और क़ानून-व्यवस्था सब पर पुरुष का अधिकार सुरक्षित है – इसी आठ मार्च की मीटिंगों, रैलियों, जुलूसों में अनेक बार दोहराया गया कि हमारी आवाज़ संसद में पहुँचे, इस हेतु महिलाओं को 33 प्रतिशत आरक्षण मिले, लेकिन पुरुषप्रधान सोच तरह-तरह के पैंतरे बदलने वाली, प्रगतिशीलता का दम भरने वाली किसी भी चुनावी पार्टी ने महिला आरक्षण बिल पास करवाने में अपनी ईमानदार तत्पर इच्छा-शक्ति नहीं दिखायी। सवाल यह भी है कि यदि संसद में 33 प्रतिशत स्त्री सीटें आरक्षित हो भी जायें और उन पर कुछ उच्चवर्गीय कुलीन महिलाएँ बैठ भी जायें, तो आम स्त्रियों की स्थिति क्या सचमुच बदल सकेगी?

अत: साथियो, अन्त में कहना चाहूँगी कि मरहम या पैबन्द लगाने मात्र से विनाश के गर्त में जाने से स्त्रियों को नहीं रोका जा सकता।

आज आवश्यकता है – एक स्वाधीन अस्तित्ववादी जुझारू मानसिकता से लैस बेटियों की – ऐसी संघर्षशील प्रेरक युवतियों की जो पितृसत्ता के कारण क़ायम भेदभाव पर प्रहार कर सकें, सामाजिक परिवर्तन के लिए हर क्षेत्र में भागीदारी करें, अपने को हीन या कमज़ोर न समझें।

आत्म-विश्वासपूर्ण सुदृढ़ क़दम उठायें। न्याय को भीख में माँगकर नहीं पाया जा सकता। बेटा-बेटी में ग़ैर-बराबरी का ख़ात्मा समतामूलक समाज

व्यवस्था में ही हो सकता है। इसलिए स्त्रियों के जीवन का लक्ष्य समाजवादी-व्यवस्था की स्थापना होना चाहिए। जब तक हम स्त्रियाँ लम्बी क्रान्तिकारी लड़ाई लड़ने की दिशा में प्रस्तुत नहीं होतीं, सामाजिक व्यवस्था परिवर्तन नहीं हो सकता – दिखावे के लिए हम कितने ही '8 मार्च' मनाते रहें...

अतः सृष्टि की कारक हम स्त्रियाँ यदि क्रान्तिकारी तेवर, सही लाइन और दृढ़ इच्छाशक्ति अपना लें, तो सत्ता की चूलें हिला सकती हैं। नये समाज की संरचना कर सकती हैं।

माया चौधरी

(श्रद्धांजलि)

अश्रीमती माया चौधरी, ऑल इण्डिया महिला फ़ेडरेशन की कर्मठ कार्यकर्त्री, माध्यमिक शिक्षक संघ की भूतपूर्व एम.एल.सी. एवं सजग स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी थीं।

उनका व्यक्तित्व खादी की सादगी और उच्च विचारों से भरपूर था। 86 वर्षीया माया जी को हड्डी की चोट ने विगत कुछ दिनों से दबोच रखा था, ज़िन्दगी और मौत की इस जद्दोजहद में वे कंकाल बनने तक जुटी रहीं, अन्ततः 4 सितम्बर 2008 को प्रातः लगभग पाँच बजे उन्होंने अपनी आँखें सदा के लिए मूँद लीं।

माया जी स्वयं में पूरा एक युग थीं... सरल, स्नेहिल, जुझारू, तरह-तरह के अनुभवों से परिपक्व, सिद्धान्तनिष्ठ, प्रेरक, पथप्रदर्शिका... वे स्नेहिल माँ थीं, हम सबकी प्यारी बहन, भाभी, ताई, नानी, दादी तथा एक विश्वसनीय साथी थीं। हर समय, हर ज़रूरत पर हमारी आँखों के सामने मौजूद सहायता के लिए हाथ आगे बढ़े हुए...

माया जी गुलाम भारत में जन्मीं। उन्होंने विदेशी शोषण से कराहते राष्ट्र को देखा, अतः किशोरावस्था में ही वे दासत्व से मुक्ति-आन्दोलन में जुड़ गयीं। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ राष्ट्रीय कांग्रेस के आह्वान पर वे एक सिपाही की तरह बिना एक क्षण की भी देरी लगाये अनुशासित कार्यकर्त्री के रूप में शिक्षकों को प्रेरणा देते हुए आन्दोलन में कूद पड़ीं। इस समय वे मात्र अठारह वर्षीया नवयुवती ही थीं और सद्यः प्रधानाचार्या के पद पर प्रतिष्ठित हुई थीं...

1943 में उन्होंने किसान कॉन्फ़रेंस आयोजन में शिरकत की। वे क्रान्तिकारी, दार्शनिक, साहित्यकार, यायावर कामरेड राहुल सांकृत्यायन के साथ मीलों पैदल चलकर किसानों को जागरूक करने के अभियान में जुट गयीं।

माध्यमिक शिक्षक संगठन में प्रदेशीय कोषाध्यक्ष हरस्वरूप चौधरी (पति)

के कन्धे से कन्धा मिलाकर वे शिक्षकों की सेवा-सुरक्षा, शोषण व अन्याय के खिलाफ़ सतत संघर्ष करती रहीं। जेल हो या घर, उनका जीवन जद्दोजहद की खुली किताब था। समस्याओं, उलझनों, बीमारियों, बच्चों की तकलीफ़ों और कठिन आर्थिक स्थिति का सामना मानो उनकी आदत बन गयी। प्रबन्धकीय व्यवस्था के शोषण के खिलाफ़ उन्होंने लगातार चौदह साल से अधिक लड़ाई लड़ी, और अन्त में उनकी न्यायोचित जीत सिद्धान्त-निष्ठा का एक उदाहरण बनी।

माया जी उत्कृष्ट वक्ता थीं। वे व्यवहारकुशल एवं सरोकार रखने वाली ईमानदार चरित्र की साथी थीं। उनमें व्यापक जनसमुदाय को प्रेरित एवं जागरूक करने की अद्‌भुत क्षमता थी। आन्दोलनरत वर्ग की माँगों, समस्याओं एवं कठिनाइयों के सम्बन्ध में वार्ताकार प्रतिनिधिमण्डल का नेतृत्व प्रायः माया जी ही करतीं। उनके सटीक तर्क, संयमित भाषा, पक्की जानकारी तथा सुझाव शासक या अफ़सर को असहमत होने का मौक़ा ही न देते। और प्रायः सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में समस्या-समाधान का सकारात्मक रुख़ बन जाता...

1977 में एम.एस.एस. ने सत्ताइस सूत्री माँगें लेकर 'जेल भरो' आन्दोलन शुरू किया। इसका नेतृत्व माया जी को सौंपा गया। उन्होंने इस आन्दोलन को यादगार बना दिया। लखनऊ में होने वाली गिरफ़्तारियों में दूधपीते बच्चों के साथ बीसियों महिलाओं ने गिरफ़्तारियाँ दीं, और सैकड़ों शिक्षकों ने जेलें भर दीं... जो समझौता होने तक अडिग रूप से जेल में रहीं।

मयूर विहार कॉलोनी, दिल्ली के निवासियों की समस्याओं के निराकरण हेतु इस सामाजिक कार्यकर्त्री ने लोगों के अनुरोध को तत्क्षण स्वीकार कर लिया। वे प्रतिनिधिमण्डल के साथ शासन से माँगपत्र लेकर वार्ता करने पहुँचीं, परन्तु शासन की टरकाऊ ढीली नीति और कठोर क़दम... कुछ भी करने को तैयार न हुए। शासन से टक्कर ली, तो कई-कई मुक़दमे ठोंक दिये गये – इन झूठे मुक़दमों ने उन्हें दस साल से अधिक परेशान किया, पर उन्होंने हार नहीं मानी – अन्त में शासन को ही त्रुटिहीन नेत्री के सम्मुख झुककर अनावश्यक मुक़दमे वापस लेने पड़े।

उनकी व्यक्तिगत सहायता और सक्रियता को याद करूँ, तो पूरा उपन्यास ही बन जाये... वे स्वयं मार्क्सवादी विचारधारा की अनुयायी थीं, परन्तु व्यक्तिगत रूप में वे अपने नातेदारों, परिचितों, साथी, सहयोगियों सभी के यहाँ सदेह उपस्थित होकर हर सुख-दुख के मौक़े पर सहयोग करतीं। उनकी दृष्टि व्यापक थी – 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की प्रैक्टिकल मिसाल... उनका हितचिन्तन और शुभकामनाएँ सबको मिलतीं – फ़्रांस, अमेरिका, रूस, पाकिस्तान की

नागरिकता प्राप्त उनके कई सम्बन्धी उन्हें भारत राष्ट्र के नागरिकता से भिन्न न लगते। उनका दृष्टिकोण मानवतावादी था – समानता पर आधारित – धर्म, भाषा, भूषा से परे...

अगर बच्चे अमेरिकावासी हो गये हैं, तो उनके जन्मदिन, उत्सवों, विवाह वर्षगाँठ आदि पर अपने हाथ से काढ़-बुनकर एक अच्छी-सी कलाकृति उपहार-रूप में वे वहाँ ले जातीं। अन्य नातेदारों, साथियों के यहाँ भी वे समान रूप से सुखद पारिवारिक वातावरण बनाने में न चूकतीं।

दिल्ली में जितने दिन मैं अपनी लड़की के यहाँ रहती, वे पता चलते ही लगभग रोज़ ही मुझसे मिलने आतीं। वे तरह-तरह के खाद्यान्न तथा पकवान बनाने में पटु थीं; उसी प्रकार सिलाई, बुनाई तथा कढ़ाई में दक्ष थीं। आश्चर्य होता कि जो रात-दिन राजनीतिक जीवन जिया हो, वह घरेलू गृहिणी के कार्यों में भी इतनी कुशल... वे नाश्ते में बनाये व्यंजनों में अद्‌भुत स्वाद भर देतीं। मेरी नातिन के जन्मदिन पर उसे 'जन्मदिन मुबारक़' काढ़कर स्वनिर्मित कलाकृति भेंट की।

अनुराग ट्रस्ट का एकाउण्ट माया चौधरी के सहयोग से ही खुला। **अनुराग बाल पत्रिका** का पंजीकरण उन्होंने ही कराया। प्रारम्भ करने, प्रकाशन और वितरण की व्यवस्था में उनकी पूरी पहल रही... पहला सदस्य अभिनव चौधरी, लेखन सामग्री की तैयारी में अनिल चौधरी का सहयोग, पत्रिका के लिए अनेक सदस्य बनाये – फ़ौरी, वार्षिक, आजीवन और हर तरह का सहयोग जुटाया...

माया जी जब भी लखनऊ आतीं... टैक्सी कर लेतीं। सभी परिचितों से मुझे मिला लातीं। सुरेश सक्सेना, बी.सी. सक्सेना, चन्द्रकान्ता, कामिनी, ईश्वरशरण अग्रवाल तथा अन्यान्य साथियों के दुख-सुख की जिज्ञासा उन्हें बिना मिले चैन न लेने देती... कुछ नहीं तो फ़ोन द्वारा ही सम्पर्क बनातीं... कोई भी आयोजन हो, वे जन-सम्पर्क करतीं, उद्देश्य बतातीं, चन्दा जुटातीं और भागीदारी करतीं...

चरैवेति चरैवेति इस कथन की माया जी साक्षात प्रतिमान थीं – चलते रहना मानो उनमें अजस्र ऊर्जा भर देता। वे सोने के घण्टों को छोड़कर हर हाल में चलती-फिरती-टहलती रहतीं – हर साल सितम्बर से फ़रवरी तक उनका यात्रा कार्यक्रम चलता रहता, जिस तरह अमेरिका निवासी पुत्र अजय का घर उनके लिए भारत का ही एक प्रदेश था, उसी तरह चण्डीगढ़, जयपुर, जालौन, बरेली, सीतापुर, मथुरा और लखनऊ के अपने नातेदारों, परिचितों के यहाँ जाती रहतीं... हर शहर में बीसियों परिवार उनके अपने थे, जो उन्हें रहने के लिए बुलाते रहते।

इस बार जब वे मथुरा अपने बड़े भाई के घर पहुँचीं, तो देखा भाई सख़्त

अवसाद में एक वर्ष बिठूर में एकान्तवास। पुनः राजनीतिक-सामाजिक सक्रियता। अप्रैल, 1992 में विश्वस्त पुराने साथियों के सहयोग से **अनुराग बाल केन्द्र** की शुरुआत। पुस्तकालय-वाचनालय-संगीत केन्द्र आदि गतिविधियाँ। **अनुराग बाल पत्रिका** का प्रकाशन, जिसकी ज़िम्मेदारी 1995 में **राहुल फ़ाउण्डेशन** के कामरेडों को सौंपी।

2001 में **अनुराग ट्रस्ट** का पंजीकरण और 2003 में सार्वजनिक घोषणा। बाल केन्द्र की समस्त गतिविधियों, पत्रिका, प्रकाशन आदि की ज़िम्मेदारी ट्रस्ट को सौंपी। अपना भवन भी ट्रस्ट को सौंप दिया। 2002 में गम्भीर हार्ट अटैक और बढ़ती शारीरिक अक्षमता के बाद भी अध्ययन व सक्रियता बरक़रार। 2006 से रचनात्मक लेखन की शुरुआत।

5 नवम्बर 1991 में रूपरेखा वर्मा, सुभाषिनी अली, सुरजीत कौर आदि के संयोजकत्व में लखनऊ में हुए **अखिल भारतीय संयुक्त महिला सम्मेलन** की अध्यक्षता की। रूपरेखा वर्मा (पूर्व कुलपति, लखनऊ विश्वविद्यालय) द्वारा स्थापित **नागरिक धर्म समाज** की दो वर्षों तक कोषाध्यक्ष भी रहीं।

जीवन की सान्ध्य बेला में समस्त ऊर्जा आने वाली पीढ़ी के सांस्कृतिक उन्नयन के लिए समर्पित। उनका मानना है कि "अगर आप सच्चे अर्थों में एक वामपन्थी हैं तो आपको अपने निजी और सामाजिक जीवन में स्त्रियों को सम्पूर्ण-वास्तविक अर्थों में बराबरी का दर्जा देना होगा और मुक्ति-समर का सहयोद्धा बनाना होगा, जाति-व्यवस्था के ज़हरीले संस्कार से पूर्णतः मुक्त होना होगा, निजी जीवन में धार्मिक कर्मकाण्डों से छुटकारे की नज़ीर पेश करनी होगी और साम्प्रदायिकता और धार्मिक कट्टरपन्थी ताक़तों के ख़िलाफ़ शहादत की क़ीमत पर भी सीना तानकर खड़ा होना होगा। जो साहस और बलिदान के लिए तथा आम जनता से एकरूप होने के लिए तैयार नहीं, उसका वामपन्थ एक पाखण्ड है, महज़ लफ़्फ़ाज़ी है। साथ ही, यह भी बेहद ज़रूरी है कि आप गहन अध्ययनशील हों, लेकिन अन्धानुकरण के बजाय स्वतन्त्र चिन्तन का साहस रखते हों।"

• • •

पिछले फ़्लैप से आगे

अनुभव-समृद्ध और घटनाबहुल जीवन के बहुविध पक्षों के संस्मरणों और शब्दचित्रों का संकलन है। यह अपने आप में विगत छह दशकों के इतिहास की महत्त्वपूर्ण स्रोत-सामग्री है। औपनिवेशिक भारत और उत्तर-औपनिवेशिक भारत के बीच का संक्रमण काल, कम्युनिस्ट आन्दोलन के शानदार पहलू और नेतृत्व के वैचारिक भटकावों की परिणतियाँ, संशोधनवादी-संसदवादी विपथगमन और तज्जन्य पतनशीलता एवं निराशा का माहौल, शिक्षक आन्दोलन का जुझारू दौर और फिर विश्वासघातों-समझौतों-बिखरावों का दौर — इतिहास की इन सारी सच्चाइयों की प्रामाणिक इन्दराज़ी इन संस्मरणों और रेखाचित्रों में हुई है।

कमला जी का पारिवारिक जीवन दुष्कर-दुरूह और त्रासदियों भरा रहा है। उनकी राजनीतिक सक्रियता ने ही नहीं, आन्दोलन के भटकावों-ग़लतियों ने भी उनके पारिवारिक जीवन को प्रभावित किया। पर तमाम चढ़ावों-उतारों के बीच उनका संघर्ष जारी रहा। अपनी स्वतन्त्र अस्मिता को लेकर भी वे सदा संघर्षशील रहीं। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कमला जी ने अपने संस्मरणों में सच्चाई का बयान करते हुए स्वजन-परिजन, पति या पुत्री — किसी को भी कोई छूट नहीं दी है और भरपूर व निर्मम वस्तुपरकता का साहस दिखलाया है। साथ ही उन्होंने वैचारिक विरोधी के प्रति भी कोई पूर्वाग्रह नहीं दर्शाया है और भरपूर सहृदयता के साथ सभी व्यक्तित्वों के सकारात्मक-नकारात्मक — दोनों पक्षों की चर्चा की है। संस्मरण लिखने के लिए यह गुण ज़रूरी होता है, पर बहुत कम संस्मरणकारों में यह पाया जाता है।

यह संकलन कमला जी की पीढ़ी के जीवन और संघर्षों से तथा भारतीय इतिहास की गुज़री हुई आधी सदी के स्फुट चित्रों से नयी पीढ़ी को बहुत कुछ सीखने का दुर्लभ अवसर प्रदान करता है।